ने दोनों सिद्धान्तों को थोड़ी थोड़ी मात्रा में ग्रहण कर लिया। उन्होंने जीवन की सम्पूर्णता को समझ कर न तो केवल अध्यात्मवाद की दुन्दुभि बजाई और न सौन्दर्यवाद को ही लेकर जीवन यापन किया, वरन उन्होंने दोनों के समुचित सम्मिश्रण में ही जीवन की सार्थकता देखी। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि यूनानियों ने डायोनिसियस की उन्मत्तता तथा एपॉलो की मर्यादा-प्रियता दोनों का सहज समन्वय कर लिया वैसे ही उन्होंने जीवन के इन दोनों—इबरानी तथा यूनानी सिद्धान्तों में सामँजस्य स्थापित कर लिया। उनके विचारों में राजनीति के नरम दल की छाया देख पड़ती है। किसी भी विचार अथवा भावना मे अति किसी प्रकार की भी न हो यही उनका मूल सिद्धान्त था। अपने अनुभव से उन्होंने जान लिया था कि दोनों भावनाओं के समन्वय में ही जीवन की सम्पूर्णता है इसीलिए उन्होंने आत्मा तथा सौन्दर्य, तर्क तथा इच्छा, अध्यात्म तथा यथार्थ दोनों के समुचित समन्वय द्वारा एक आकर्षक जीवन-सिद्धान्त का निर्माण किया।

इस सिद्धान्त के फल-स्वरूप हमें दुःखान्तकी के प्रभाव को समझने में सरलता होगी। यूनानियों को डायोनिसियस के त्योहारों में लालसा, उन्मत्तता, आवेश तथा प्रलाप के अति से जीवन में विशृंखलता आने का डर था और ये भावनाएं शरीर से सम्बन्ध रखती थीं, और इसके साथ ही साथ एपॉलो के त्योहार की मर्यादा, आदर्शवादिता तथा आध्यात्मिकता की अति से जीवन में नीरसता आने का भय था; फलतः इन दोनों की अति का परिमार्जन तथा संशोधन उनके साहित्य सिद्धान्तों का प्रमुख ध्येय हो गया। यही संकेत हमें यूनान देश के प्रत्येक लेखक की दुःखान्तकी में मिलता है। और इसी संकेत के अनुसार समस्त यूनानी दुःखान्तकी का अन्त भी होता है। इस अन्त के प्रदर्शन में लेखकों की नैतिक कला छिपी रहती है। जब हम श्रेष्ठ वीरों की असफलता देख चुकते हैं और भाग्य चक्र की कुटिलता पहचान लेते

नाटक की परख

लेखक

डॉक्टर एस० पी० खत्री

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

प्रकाशक

साहित्य-भवन लिमिटेड, प्रयाग

फहराने में कुशल बना देते। इस शिक्षा-प्रणाली में जो कुछ भी अड़चनें आतीं शिक्षक वर्ग उनको दूर कर अपनी शिक्षा-प्रणाली को ग्राह्य बनाने का पूरा प्रयत्न करते थे। इसी कारण से, कदाचित् रोम देश ने न तो कोई विशेष धार्मिकता फैलाई और न कोई इस जगत से परे दूसरे आध्यात्मिक जगत का स्वप्न देखा। उनकी दृष्टि की परिधि में ईश्वर और उसका साम्राज्य न आता था। उन्हें नैतिक नियमों, आध्यात्मिक विचारों, स्वर्गीय अनुभूतियों से कोई विशेष सरोकार न था। उनका सरोकार था सफल नागरिकता, सफल राजनीति तथा सफल समाज से। उनकी संस्थाओं, उनकी रूढ़ियों, उनके समाज की नींव जिससे मज़बूत हो उन्हें तो उसी को अपनाना था।

इस सामाजिक उपयोगिता को सामने रखते हुए रोम के साहित्यकारों ने आध्यात्मिक भावों को हटाकर उसके स्थान पर केवल व्यवहारिक नियमों की एक सूची बना ली। धर्माचरण, पुण्यकार्य, नैतिकता ने केवल कुछ दैनिक रहन सहन तथा आचरण के नियमों का रूप ले लिया। उसमें न तो धर्म की आत्मा थी और न नैतिकता की शुभ्रात्मा। 'बैकाइड्स' नामक नाटक में नाट्यकारों के लिए कुछ नियम बतलाए गए हैं जिनमें पहला है—'युवाओं की त्रुटियों और उन्मत्त भावों का अत्यधिक निराकरण न करो, वे कुछ दिनों बाद अपने आप ठीक हो जांयगी'। दूसरा नियम है—अपराधी को, अधिक निन्दित न करो उन्हे थोड़ा बहुत मौक़ा दोषपूर्ण जीवन से सीखने का अवश्य दो। इस दृष्टि से रोमीय समाज के लिए बुराई अथवा पाप आत्मा से संबन्ध रखने वाली कोई वस्तु न थी। वह केवल उन्ही नियमों का उलघन था जिससे समाज की मज़बूती को धक्का लग सकता था। इसी कारण से रोम की सुःखान्तकीयों में वेश्याएँ तथा उनके दरबारी, मुफ़्तख़ोर, आलसी, पाखण्डी, घमण्डी, ढोंगी, शेख़ी वाले, अपनी बात ओटने वाले—पात्रों की भरमार रहती है। इसका यह तात्पर्य

माँ

और

रानी बहू

को

जो मेरे लिखने पढ़ने को

केवल

'नाटक'

समझती हैं

दो शब्द

हिन्दी साहित्य में आलोचनात्मक ग्रन्थों की कमी है। जो ग्रन्थ हैं भी वे संस्कृत-साहित्य के अथवा अंग्रेज़ी के आलोचनात्मक ग्रन्थों के अनुवाद मात्र हैं। आधुनिक आलोचना के सिद्धान्तों की प्रेरणा द्वारा कम पुस्तकें लिखी गई हैं। 'नाटक की परख' इस साहित्यिक अंग की पूर्ति का प्रयास है।

इसमें सन्देह नहीं कि नाट्य-साहित्य से संबंधित पुस्तकों का संस्कृत साहित्य में अक्षय-भण्डार है। प्राचीन मनीषियों ने नाटक रचना तथा नाट्य कला पर जो पुस्तकें लिखी हैं उनकी महत्ता अपूर्व है और वे साहित्य की अमूल्य निधि रहेंगी। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर अंग्रेज़ी-साहित्य-सूर्य की प्रखर किरणें पड़ रही हैं। देश के साहित्यकारों में पहले पहल बंगला के साहित्यिकों ने इस प्रकाश को ग्रहण कर अपना साहित्य भरा पूरा किया है। तत्पश्चात मराठी तथा गुजराती साहित्य ने नवीन धाराओं के अनुसार अपने साहित्य का निर्माण किया है। यहां तक कि, अगर सच पूछा जाय तो, उर्दू के कुछ कलाकारों ने अंग्रेज़ी साहित्य की हास्यात्मक गद्य शैली को बड़ी खूबी से अपना कर श्रेष्ठ गद्य रचना की है। कदाचित हिन्दी-साहित्य सेवी इस दौड़ में पीछे हैं। इसका कारण शायद रूढ़िवादिता तथा राष्ट्रीयता हो सकता है। रूढ़िवाद के प्रेमियों ने अन्य वाह्य साहित्यिक प्रभावों से अपने को बचाने की चेष्टा में कुछ ऐसा दृष्टि-कोण अपनाया जो मध्य-काल में ही वांछित हो सकता था। कुछ साहित्यकारों ने तो अपने साहित्यिक कोट को इस प्रकार सुदृढ़ कर, बाहर खाइयां खोद दीं कि किसी बाहरी आक्रमण से वह बिलकुल सुरक्षित हो गया।

इस प्रकार के दृष्टि-कोण तथा सीमित वातावरण से हिन्दी-साहित्य के फलने फूलने में बडी बाधा पड़ी है। यह कहना भी असंगत है कि समस्त वाह्य प्रभाव ग्रहणीय हैं। कुछ वाह्य प्रभाव तो ऐसे हैं कि जिनसे साहित्य की मर्यादा गिर सकती है। उदाहरणार्थ पाश्चात्य देशों के कथा-साहित्य ने जहां भारतीय साहित्यकारों को नए नए रास्ते दिखलाए, नवीन शैलियां प्रस्तुत कीं उसके साथ ही साथ कुछ ऐसे भाव-समूहों पर आधारित कथा-साहित्य निर्मित करने का आमन्त्रण दिया जिसके फल स्वरूप लाभ के अतिरिक्त हानि ही अधिक हुई है।

आलोचना-साहित्य के कोट द्वार को पूर्ण-रूप से वाह्य प्रभावों को लाने के लिए खोल देने में कोई हानि नहीं है। जिन प्राचीन भित्तियों पर हमारा साहित्य-संसार टिका हुआ है उसकी ईंटें कुछ कमज़ोर हो चली हैं और नींव पानी खा गया है। अब समय आगया है जब हमें उस प्राचीन नींव को नए चूने गारे से अनन्त काल के लिए सुदृढ़ बना देना चाहिए। इसके साथ साथ साहित्यिक छूत-छात से कदाचित हानि के सिवा लाभ नहीं। 'पड़ो अपावन ठौर में कंचन तजत न कोय'—शायद कुछ संस्कृत तथा उससे प्रेरित साहित्य-कारों के लिए अंग्रेज़ी अथवा अन्य योरोपीय देशों के साहित्यिक सिद्धान्त अपावन हों-वाली धारणा अपनानी चाहिए।

इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है। जिस समय संस्कृत साहित्य की रचना हुई उस समय के समाज के आचार-विचार, आदान-प्रदान का ढंग तथा उनको व्यक्त करने की शैली उस समय के लिए नितान्त अनुकूल तथा प्रभाव-पूर्ण थी। हमें मौर्य-साम्राज्य का वैभव स्वप्न समान हो गया है; राजपूती जौहर अब कहानियों की वस्तु हो कर रह गए हैं। हमारे समाज ने इतने पलटे खाए हैं कि आश्चर्य इस बात पर होता है कि वह अब तक जीवित कैसे है। बदलते हुए समाज को जीवित रखने के लिए बदलती हुई साहित्यिक शैलियों की आवश्यकता पड़ती है। इस बदलते हुए समाज

को कुछ नवीन साहित्यिक धाराओं का रसास्वादन कराना भी अत्यन्त आवश्यक है। 'नाटक की परख' भी इसी ओर एक छोटा प्रयास है। इसमें अंग्रेज़ी नाट्य सिद्धान्तों का निचोड़ है। मैं साहित्य-भवन का कृतज्ञ हूँ जिसके सहयोग के ही कारण यह पुस्तक पाठकों के हाथ में है।

एस० पी० खत्री

इलाहाबाद
जनवरी १, १९४८

विषय सूची

शब्द-कोष

Aristotle	...	अरस्तू
Atmosphere	...	वातावरण
Background	...	पृष्ठ-भूमि
Chorus	...	सह गायक
Comedy	...	सुःखान्तकी
Comic	...	सुःखान्तक
Conflict	...	द्वन्द्व, संघर्ष
Crisis	...	आपद्काल
Denoueement	...	पतन
One-Act-Play	...	एकांकी
Plato	...	अफ़लातूं
Plot	...	वस्तु
Roman	...	रोमीय
Romantic	...	रोमांचक
Story	...	कथानक
Tragedy	...	दुःखान्तकी
Tragic	...	दुःखान्तक
Tragi-Comedy	...	मिश्रितांकी

१

प्रथम खण्ड

प्राचीन युग

१

नाट्य-कला का उद्गम

हज़ारों वर्ष पहले की कहानी है।

सूर्य की गर्मी से धरती सूख गई थी। मीलों तक पानी और वर्षा का नाम तक न था। सूर्यदेव और भी आकाश में प्रचण्ड होते जा रहे थे। पशु-पक्षी कहीं पर भी दिखलाई नहीं पड़ रहे थे। भीषण गर्मी से वे भी इधर-उधर छिपकर निश्चेष्ट तथा आक्लान्त पड़े हुए थे। ऐसे ही समय में एक जगली जाति के कुछ लोग गरोह बनाकर भूख और प्यास से त्रस्त होकर बाहर निकल पड़े। बाहर निकलते ही उन्हें सूर्य के प्रचण्ड ताप का अनुभव हुआ। वे थोड़ी ही देर में सूर्य की इस प्रचण्ड शक्ति से विह्वल हो उठे। ज्यों ही मध्याह्न हुआ त्यों ही उन्होंने सूर्य की सम्पूर्ण शक्ति तथा उसके विशाल तेज का दर्शन किया। उसके ताप से उनमें भय का सचार हुआ; उसके दर्शन से उनमें श्रद्धा की ज्योति जाग उठी। इस गरोह के कुछ लोग नत-मस्तक हुए। उन्होंने सूर्य को किसी भीषण शक्ति का प्रतीक समझा। उन्होंने प्रार्थना की : देव! अपना ताप कम करो!

इस गरोह के कुछ लोग आगे बढ़ते ही गये। उन्हें सूर्य के ताप की चिन्ता न थी। उन्हे चिन्ता थी अपनी भूख मिटाने की; अपनी प्यास बुझाने की। भूख की ज्वाला ने उन्हे बाहर निकलने पर विवश कर दिया था और उनका दृढ़ निश्चय था कि वे बिना अपनी क्षुधा शान्त किये वापस न जायँगे। इतने ही में बादल आकाश में घिर आये। रिमझिम वर्षा होने लगी। आँधी चली, बादल गर्जा; बिजली कौंधी; पानी बरसा। सूर्य के ताप से त्रस्त मनुष्यों ने गर्मी से शान्ति

पाई। वर्षा ने थोड़ी ही देर में सम्पूर्ण प्रकृति को आप्लावित कर दिया। पथिकों ने अपनी प्यास बुझाई; उनमें भय तथा श्रद्धा का अनुपम संचार हुआ ; इस भावना के जागते ही उन्होंने वर्षा की अपूर्व शक्ति के आगे घुटने टेक दिये। उन्होंने प्रार्थना की : जलदेव ! तुम धन्य हो ! हम तुम्हारे सेवक हैं !!

इस गरोह के बचे हुए लोग और भी आगे बढ़े। उनकी भूख अब भी न बुझ पाई थी। चलते-चलते वे ऐसे स्थान पर पहुँचे जहाँ वर्षा हो चुकी थी। नदी-नाले भर रहे थे, चारों ओर हरियाली ही हरियाली थी। हर ओर वृक्षों पर फल लदे हुए थे। पक्षी-वर्ग मंगल-गान कर रहा था। पथिकों ने शीघ्र ही कुछ फल तोड़े, कन्द-मूल इकट्ठे किये, कुछ मछलियाँ पकड़ीं और अपनी क्षुधा शान्त की। क्षुधा-शान्ति के पश्चात् उनके हृदय में समस्त प्रकृति के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा की भावना संचरित हुई। वे विनत हुए : प्रकृति देवी ! तू धन्य है; हम तेरे दास हैं !!!

रात्रि में यह सारा गरोह इकट्ठा हुआ। कुछ लोगों ने सूर्य की प्रशंसा की; कुछ ने जल के गुण गाये; कुछ ने सम्पूर्ण प्रकृति के वैभव और उसमें निहित शक्ति का वर्णन किया। उन लोगों ने यह देखा कि सूर्य की गर्मी, वर्षा के जल तथा प्रकृति के वैभव के कारण ही उनकी प्यास बुझी; क्षुधा शान्त हुई। वे हर्ष से नाच उठे। उनके अंग-प्रत्यंग डोल डोलकर प्रकृति की पोषक-शक्ति का परिचय देने लगे। वे इतने अधिक हर्षित हुए कि उन्हें तन-बदन की सुध न रही। स्त्री, पुरुषों ने मिलकर गीत गाने आरम्भ किये। उन्होंने अपनी शान्ति तथा अपने हर्ष का परिचय अपने गायन, नृत्य तथा दैवी श्रद्धा के द्वारा दिया। इसी गरोह की उन्मत्त नृत्य-भावना तथा हर्ष-प्रदर्शन में ही नाट्य-कला का उद्गम था।

आदि जातियों के लिए प्रकृति जीवित थी। दिन-प्रतिदिन के

परिवर्त्तन, ऋतुओं के आवागमन तथा प्रकृति के आवर्तनशील जीवन की पहेली उन्हें अत्यन्त जटिल मालूम होती थी। उनमें न तो तर्क-शक्ति थी और न विश्लेषण-शक्ति। वे प्रकृति के किसी भी अंग का वैज्ञानिक रूप से निरूपण नहीं कर सकते थे। वे प्रकृति से केवल अपनी क्षुधा-शान्ति का वरदान माँगते थे और समस्त प्रकृति को एक विचित्र दैवी घटना समझते थे। वर्षा और वसन्त दोनों ही उनकी क्षुधा शान्ति में सहायक होते थे। जल-राशि तथा नदियाँ उन्हे भोजन के नये पदार्थ प्रस्तुत करती थीं। प्रकृति की जिन जिन शक्तियों से उन्हें शान्ति और सान्त्वना मिलती उन्हीं शक्तियों की वे पूजा करते, उनका आवाहन करते तथा उन्ही के सामने नत-मस्तक होते। इन्हीं शक्तियों में वे जीवन की प्रगति का अनुभव कर उसे नृत्य में परिणत करने की सफल चेष्टा करते थे। नृत्य, नाटक का आदि-रूप है।

क्षुधा-शान्ति के पश्चात् इन आदि जातियों में, स्वाभाविक रूप से, प्रणय तथा लालसा की भावना जाग उठी। जैसे-जैसे उनकी क्षुधा शान्त होती गई वैसे ही वैसे उनमे लालसा की भावना बढ़ती गई। एक समय ऐसा आया जब प्रणय का बाँध टूट गया और लालसा अबाध गति से बह चली। प्रणय के बहाव तथा लालसा की तरंग में स्त्री-पुरुष, युवा-युवती, सयोग की प्रतीक्षा में गायन तथा नृत्य करने और प्रकृति के मनोरम तथा फलप्रद स्थलों पर जाकर क्रीड़ा करने लगे। प्रकृति की जो-जो वस्तुएँ उनकी प्रणय-क्रीड़ा मे सहयोग देतीं वे उन्हें सख्य-भाव से देखते और समस्त प्रकृति के पोषक-तत्त्वों, शक्तिपूर्ण अगों तथा सुन्दर स्थानों की पूजा करते। अपनी लालसा तथा श्रद्धा को वे अपनी रंगरलियों मे आनन्दपूर्वक प्रदर्शित करते थे। संभवतः इन्हीं रगरलियों मे नाटक का बीज निहित था।

इन आदि मनुष्यों के गरोहो का जीवन पूर्णतया श्रद्धामय था। उन्होंने अपने से अधिक शक्तिशाली सूर्य, वर्षा, बिजली और बादल

के सामने हार मान कर उनका शासन स्वीकार कर लिया था। प्रकृति के प्रत्येक स्थल में वे जीवन का अंकुर, उसकी प्रगति तथा उसका विस्तार देखते थे। वे अपने को प्रकृति का एक निरीह अंग मानकर अन्य शक्तिशाली अंगों की पूजा तथा अर्चना में अपना समय व्यतीत करते थे। वायु के वेग, विद्युत् की गति, सूर्य के ताप, आकाश के विस्तार के सामने वे अपनी हीनता का अनुभव कर उन्हें देव-तुल्य अथवा स्तुत्य समझते और उनकी अपार तथा अविजित शक्ति के आगे नत मस्तक हो कर धर्म का बीज बोते थे।

सारांश में, क्षुधा-शान्ति तथा प्रणय-लिप्सा और प्रकृति की अपार शक्ति की पूजा तथा अर्चना मे नाट्यकला का जन्म हुआ। क्षुधा-शान्ति, प्रणय-तृप्ति तथा जीवन-शक्ति के अनुभव के उपरान्त, इन मनुष्यों ने अपने हर्षपूर्ण तथा श्रद्धायुक्त नृत्य और गायन मे नाटक का प्रथम स्वरूप प्रस्तुत किया। वसन्तागमन, वर्षागमन तथा अन्य उत्सवों पर नृत्य-गीत गाये जाते और स्त्री-पुरुष एक टोली में इकट्ठे होकर अपना हर्ष प्रदर्शित करते थे। समाज तथा सभ्यता ने नाटक के इसी आदिरूप—नृत्य तथा गायन—को परिमार्जित कर नाटक का आधुनिक रूप निर्मित किया है। इन नाटकों का परिमार्जन पहले-पहल यूनान देश में आरम्भ हुआ।

यूनान के प्राचीन गरोहों ने भी प्रकृति की अपार शक्ति का अनुभव किया था। उन्होंने प्रकृति के परिवर्त्तनशील दृश्यों को देखकर तथा उसके अटल नियमों का अनुभव कर, एक दैवी शक्ति की कल्पना की जो मानव की क्षुधा शान्त कर उसको सन्तोष दान देती थी। इसी श्रेष्ठ शक्ति की कल्पना में कला का जन्म हुआ। इसी कारण कला मनुष्य के समाज से सम्बन्धित है। यूनानियों ने अपनी कल्पना का सहारा लेकर उन देवताओं का रूप-निर्माण तथा आवाहन आरम्भ किया जो उन्हें भोजन और सुरा देकर सन्तुष्ट तथा आनन्दित रखते

थे। ये देवता 'डायोनिसियस' तथा 'बैकस' के रूप में अवतरित हुए। 'डायोनिसियस' केवल पोषक ही देवता न थे; वे प्रकृति के विशाल तथा वैभवपूर्ण जीवन के प्रतीक थे। उन्हीं की कृपा से पतझड़ के पश्चात् प्रकृति को वसन्तागमन द्वारा नव जीवन मिलता। उन्हीं के द्वारा सुप्त संसार, जो रात्रि के समय निष्चेष्ट तथा निर्जीव रहता, उषा की लालिमा से प्रातःकाल अपने को सचेष्ट तथा अनुरंजित करता। उन्हीं की अनुकम्पा से वृक्षों पर फल आते और अंगूर की बेलें लहलहा उठतीं। वे प्रकृति को जीवन-दान देते थे। वास्तव में वे जीवन के प्रस्फुटन अथवा प्रकृति में प्राण-प्रतिष्ठा-योग के देवी प्रतीक थे। यूनानी 'डायोनिसियस' को पूजा भव्य-रूप से करते थे।

पहले पहल एक प्रमुख गायक टोलियों के सम्मुख आता और 'डायोनिसियस' की प्रशसा के गीत गाता और फिर नृत्य द्वारा अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता था। 'बैकस' अथवा सुरादेव की भी प्रशंसा में वह तन्मय होकर गायन करता तथा नृत्य द्वारा अपना सन्तोष तथा हर्ष प्रदर्शित करता था। इन नृत्य-गीतों के साथ साथ गायन-कला तथा भाव-व्यंजना दोनों का प्रस्फुटन हुआ। धीरे-धीरे प्रमुख गायक के गायन तथा नृत्य-कला में तन्मय होकर अन्य लोग भी नृत्य तथा गीत में सहयोग देने लगे। अब गायकों की टोली एक से दो और दो से चार होने लगी। कुछ दिन वाद उन गायकों का चुनाव होने लगा जो दोनों कलाओं में पटु होते। यही टोली, आगे चलकर यूनानी नाट्य-साहित्य में 'कोरस' अथवा 'सहगायक' कहलाई। इन उत्सवों में जो नृत्य तथा गायन होता उन्हें 'डिथिरैम्बिक डास' तथा 'बैकिक डांस' अथवा तन्मय-नृत्य नाम मिला।

इन प्राचीन नृत्य-गीतों का कोई साहित्यिक लेखा नही मिलता। मूल रूप में वे केवल मौखिक ही रहे होंगे, परन्तु गायन-प्रणाली का लेखा अवश्य है। सबसे पहले प्रमुख गायक पूरे स्वर से गीत की तान

छेड़ता और उसकी टेक बतलाता। उसी तान और टेक पर सहगायक अपनी तान छेड़ते और टेक दुहराते। समय ने, धीरे-धीरे यूनानियों के सम्मुख अन्य देवता तथा श्रेष्ठ राष्ट्रीय वीर प्रस्तुत किये। देव-तुल्य वीरों की कहानियाँ, उनके साहसपूर्ण कार्य, उनकी शूरता तथा उनकी मानवता की प्रशंसा मे नृत्य-गीत उत्सवों पर प्रदर्शित होते और टोलियाँ बड़ी उत्सुकता तथा उत्साह से सहयोग देतीं। क्रमशः इन नृत्य-गीतों के विषयों की सूची बढ़ती गई। समय ने, फिर इन देव-तुल्य वीरों को मनुष्य में परिणत कर दिया। समाज ने मानव को निकृष्ट तथा हीन न समझ कर उसे गौरवपूर्ण तथा श्रेष्ठ वर्ग का समझना शुरू कर दिया। श्रेष्ठ देवों का स्थान, श्रेष्ठ वीरों ने तथा श्रेष्ठ पौराणिक वीरों का स्थान श्रेष्ठ अथवा साधारण वर्ग के मनुष्य ने ले लिया। यूनानियों ने केवल राजाओं तथा रानियों को ही अपने नाटकों में नायक तथा नायिका का पद दिया है। नाट्यकारों ने इन नायक और नायिकाओं के अभिनय-हेतु एक रंगमंच का भी निर्माण किया।

यूनानियों का रंगमंच, मूल-रूप में केवल एक गोल घिरा हुआ स्थान था। बीचोबीच एक थोड़ा सा ऊँचा स्थान वेदी के समान रहता था। यह स्थान सुरादेव का स्थान था। वेदी को यूनानी जनता धार्मिक-रूप से पवित्र मानती थी और किसी भी रूप में उसको अपवित्र करना पाप था। वेदी को अपवित्र करने वाले को मृत्यु-दण्ड की राज्याज्ञा थी। ईसा के चार सौ वर्ष पूर्व-यूनानियों की रंग शालाएँ इसी रूप मे थीं।

इन यूनानियों की रंगशालाओं में समयानुसार 'ट्रैजेडी' अथवा दुःखान्तकी का प्रदर्शन हुआ करता था। जर्मन दार्शनिक नीट्शे के मतानुसार दुःखान्तकी ही नाटक का मूल-स्वरूप है। इस मूल-स्वरूप में यूनान की आत्मा के दो विरोधी भावों का समन्वय है। पहला है डायोनिसियस—जो कल्पना, आवेश, उद्वेग तथा लालसा का प्रतीक

है; दूसरा है एपालो—जो सामंजस्य, अनुक्रम, सन्तोष, शालीनता, मर्यादा तथा प्रेम का प्रतीक है। इन दो विरोधी भावों के समन्वय से ही दुःखान्तकी की रचना संभव हुई है। यूनानी कवियों ने डायोनिसियस तथा एपालो की आत्मा में अपनी प्रवल इच्छा-शक्ति द्वारा एक काल्पनिक सामंजस्य उपस्थित कर दिखाया। डायोनिसियस की आत्मा उन्मत्तता की प्रलाप-पूर्ण आत्मा है और एपालो की आत्मा स्वप्न-देश की शुभ्र आत्मा है। कल्पना और वास्तविकता, मर्यादा तथा प्रलाप, लालसा तथा प्रेम में सामञ्जस्य प्रस्तुत करना दैवी कार्य था। यूनानी कवि ने इस कार्य को कला के नवीन संसार में संभव किया। इस नवीन संसार में पहुँच कर उसने अपनी रहस्यपूर्ण दृष्टि से, जीवन के विरोधी भावों और द्वन्द्व के पीछे छिपी हुई एकता का अनुभव कर दुःखान्तकी का कलामय निर्माण किया। दुखान्तकी का दूसरा आधार सहगायक है जिसमें वनदेवता इकट्ठे होकर डायोनिसियस की अर्चना में गीत गाते हैं।

प्रसिद्ध आलोचक रिज़वे ने भी नाट्यकला का उद्गम, ऐतिहासिक दृष्टि से, प्राचीन काल में ही माना है। उनके अनुमान से नाटक की आत्मा का जन्म समय के आवर्त्त में छिपा है। प्राचीन टोलियाँ और मनुष्यों के गरोह जब ऋतु-परिवर्तन पर प्रसन्न होकर नृत्य करते तो वे उस समय अपने जाति-विशेष के वीरों तथा साहसी मनुष्यों का आवाहन कर उन्हें अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते थे। इस श्रद्धाञ्जलि में नाटक का वीज निहित था। इसमें अखाड़ों के जातीय खेल, घुड़सवारी की प्रतियोगिता तथा गायन भी सम्मिलित था। डायोनिसियस की पूजा के लिए जो वेदी निर्मित की गई थी वह वास्तव में बलि-वेदी थी। वहाँ डायोनिसियस तथा अन्य जातीय वीरों की आत्मा को सन्तुष्ट करने के लिए बलिदान होते थे। इसी बलिदान के कार्य-क्रम में दुःखान्तकी का मूल वीज था। ये बलिदान के उत्सव पहले पहल

थ्रेस प्रान्त में शुरू हुए और जब जब टोलियाँ डायोनिसियस की पूजा करतीं तो वे बहुत अशिष्ट तथा अश्लील रूप में नृत्य तथा गायन करती थीं। यूनानियों का विश्वास था कि डायोनिसियस ही के कारण खेती होती है, खलिहान भरे पूरे रहते हैं और मनुष्य मात्र को सुख और शान्ति मिलती है। आजकल के रोम प्रदेश में 'सैटरनेलिया' नामक त्योहार इसी का रूपान्तर मात्र है। यूरोप के देशों में ईस्टर तथा भारतवर्ष की होली की रङ्गरलियों के पीछे इसी भावना का संकेत मिलता है।

नाट्यकला के आलोचक मूरे के मतानुसार भी दुःखान्तकी का बीज डायोनिसियस की पूजा तथा अर्चना में निहित था। डायोनिसियस की पूजा वास्तव में वसन्त और नये वर्ष का आवाहनमात्र थी, क्योंकि इन्हीं के प्रभाव से समस्त प्रकृति नवजीवन पाती और मानव समाज सन्तुष्ट तथा हर्षित होता था। यूनानी नये वर्ष की आत्मा को 'डीमॉन' नाम से पुकारते थे और इसी के परिवर्त्तनशील दृश्यों में दुखान्तकी की आत्मा का आभास मिलता है। प्रत्येक वर्ष का जीवन कभी गर्व से उन्नत होता, कभी उसी गर्व द्वारा पतन को प्राप्त होता था। वसन्त ही उसके गर्व की पराकाष्ठा थी पतझड़ तथा शिशिर से ठिठुरता हुआ वर्ष उसी का पतन-स्वरूप है। इन्हीं दोनो भावों—गर्व तथा उसका शमन—को लेकर दुःखान्तकी की आत्मा का निर्माण हुआ। जो शक्ति इस गर्व का प्रतिशोध लेकर उसका शमन करती उसे यूनानी 'ह्यूब्रिस' अथवा प्रतिशोधिका कहते थे। कदाचित् शेक्सपियर लिखित 'किंग लियर' नाटक के पतन भाग में प्रतिशोधिका की पूर्ण छाया है। जब वर्षा के गर्व का पतन होता, तो यह प्राण-दण्ड एक प्रकार से उचित ही माना जाता परन्तु कुछ ही दिनों बाद वर्षा की नवीन आत्मा फिर से अपने पतन का प्रतिशोध लेती और इसी तरह गर्व, प्रतिशोध तथा पतन का हर वर्ष पुनरागमन होता रहता और अटूट

श्रृंखला बँधी रहती। इसी श्रृंखला अथवा पुनरागमन में नाट्य-कला का प्रथम दर्शन था।

२

दुःखान्तकी की प्रगति

यूनानी दुःखान्तक सिद्धान्त

ईस्किलस—(५२५—४५६ पूर्व ईसा) यूनानी लेखकों में ईस्किलस ने अपनी कला से दुःखान्तकी की प्रगति विशेष रूप से की। ईस्किलस का जन्म ५.२५ पूर्व ईसा हुआ था। जब यूनानियों और फारस देश की सेनाओं में युद्ध हो रहा था उस समय ईस्किलस युवा थे। अपनी युवावस्था में ही उन्हें एक साहित्यिक प्रतियोगिता में पुरस्कार मिला। इस पुरस्कार से उत्साहित होकर उन्होंने साहित्य रचना प्रारम्भ की और उसी को अपना जीवन ध्येय बनाया। किसी एक पुस्तक में उन्होंने यूनानी धर्म की कटु आलोचना की और यूनानी समाज पर व्यंगवाण बरसाए। उनके इस कार्य से क्रोधित होकर सरकार ने उन्हें निर्वासन दण्ड दिया और उन्होंने यूनान की राजधानी एथेन्स से विदा ली। बहुत काल तक वे निर्वासित रहे और इसी समय उन्होंने पचास ग्रन्थों की रचना की। उनकी मृत्यु सिसली मे हुई।

ईस्किलस बड़े उत्साही कलाकार थे। उनके समय में नाटकों में केवल एक ही पात्र रहता था जो सहगायकों के साथ संवाद कर नाटक का कार्य सम्पूर्ण करता था। ईस्किलस ने दूसरे पात्र की योजना की और संवाद में नाटकीय तत्वों का सम्मिश्रण कर नाट्य-कला की प्रगति की। दो मनुष्यों के सवाद के फल स्वरूप नाटक रचना मे बड़ा गहरा परिवर्तन हुआ और एक ऐसे नवीन तत्व का निर्माण हुआ जिसे

आधुनिक लेखकों ने बड़ी कुशलता से अपने नाटकों में व्यवहृत किया है।

ईस्किलस ने नाटकों में सहगायकों की कृत्रिमता को घटाया। सहगायकों का संवाद साधारणतय: गीत काव्य के गुण लिए रहता था। जब नाटक में द्वन्द्व की आवश्यकता होती तब उस समय के कलाकार उसे गीत काव्य के गुणों से पूरा करने की असफल चेष्टा करते थे। ईस्किलस ने संवाद को ही नाटक का मुख्य आधार माना और उसमें अनेक नाटकीय गुण संग्रहीत किए। इसी के साथ-साथ उन्होंने नाटकों की पृष्ठ-भूमि का भी परिचय संवाद द्वारा देना आरम्भ किया। परन्तु ईस्किलस में इतनी प्रतिभा होते हुए भी उनमें नाटकों से गीत काव्य के तत्वों को अलग रख कर नाटक रचने की क्षमता नहीं थी। संवाद की प्रधानता तथा पृष्ठ-भूमि का संकेत उनके नाटकों के महत्वपूर्ण गुण हैं।

साधारणत: यूनानियों का विश्वास था कि देवता वर्ग मनुष्य से ईर्ष्या करते हैं और उसे संसार में पनपने नहीं देते। परन्तु ईस्किलस की धारणा इसके विपरीत थी। उनके विचार में भाग्य ही मुख्यत: प्रतिशोधिका है। यह प्रतिशोधिका कोई रहस्यपूर्ण शक्ति नहीं है वरन मनुष्य को उसके कर्मों के फल प्रदान करती है। मनुष्य का गर्व और उसका अनैतिक कार्य प्रतिशोधिका का आह्वान करता है और प्रतिशोधिका कभी भी अपने कार्य में चूकती नहीं। सारांश में ईस्किलस का यह नाटकीय सिद्धान्त है कि मनुष्य भाग्य के हाथों का खिलौना मात्र नहीं परन्तु मनुष्य के त्रास और पीड़ा में एक गूढ नियम सन्निहित है जिसके अनुसार मनुष्य फल भोगता है। और जब दु:ख, पीड़ा तथा त्रास से मनुष्य की आत्मा निर्मल हो जाती है तभी वह जीवन को वास्तविक रूप से समझ सकता है। बहुत अंशों में ईस्किलस का सिद्धान्त अंग्रेज़ी कवि जॉन मिल्टन के सिद्धान्तों से

मिलता है। जैसे मिल्टन ने ईश्वरीय कार्यों का समर्थन कर मनुष्य को ही दोषी ठहराया उसी प्रकार ईस्किलस ने भी ईश्वरीय कार्यों के पीछे किसी अटल तथा नैतिक नियमों का आभास पाया है। संस्कृत तथा हिन्दी के नाट्यकारों के 'विधि विधान' के संकेत मे भी इसी सिद्धान्त की छाया मिलती है।

साफोक्लीज़ (४९५—४०६ पूर्व ईसा) साफोक्लीज़ ईस्किलस से अधिक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। अपनी युवावस्था में उनको नाटक खेलने का बड़ा चाव था। थोड़े ही समय बाद वे नाटक रचना की ओर आकृष्ट हुए और पूर्व ईसा ४६८ में उन्होंने अपना पहला नाटक लिखा। साहित्यिक-प्रतियोगिता में भी उन्होंने ईस्किलस को हराया। साठ वर्ष के अनन्तर उन्होंने क़रीब १२० नाटकों की रचना की, परन्तु उनमे केवल सात ही प्राप्य हैं। साफ़ोक्लीज़ यूनानी राजनीतिक नेता पेरीक्लीज़ के परम मित्र थे और उनकी रचनाओं में यूनानी सभ्यता के स्वर्ण-युग का सम्पूर्ण चित्र मिलता है।

नाटक रचना मे पहले पहल साफ़ोक्लीज़ ने पात्रों की संख्या दो से तीन बढ़ाई जिसके कारण संवाद में विभिन्नता आई और मनोरंजकता बढ़ी। यद्यपि ईस्किलस ने पृष्ठ भूमि का उपयोग शुरू कर दिया था परन्तु दृश्यों का प्रभावपूर्ण प्रदर्शन साफोक्लीज़ ने ही पहले पहल किया। दृश्यों का वर्णन, उनका सुरुचिपूर्ण-चित्रण तथा उन्हें अलंकृत करने में उनकी विशेष कला थी।

सहगायकों की संख्या तथा उनकी वेशभूषा में भी साफोक्लीज़ ने बड़ा महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। उन्होंने सहगायकों की संख्या १२ से १५ की और उन्हें वह वेशभूषा प्रदान की जिसके द्वारा वे बाद में पहचाने जा सकते थे। परन्तु सब से महत्वपूर्ण परिवर्तन उन्होंने नाटकों के रूप में किया। अब तक नाटक चार खण्डों में प्रदर्शित होते थे और प्रत्येक खण्ड एक दूसरे पर निर्भर रहता था। साफ़ोक्लीज़

ने यह प्रणाली बदल कर अलग-अलग खण्डों मे नवीन विषयों का उपयोग किया।

दुःखान्तक-कला के संबध मे साफोक्लीज़ के सिद्धान्त ईस्किलस से अधिक कलापूर्ण हैं। वे प्रत्येक व्यक्ति के दिन प्रति दिन के दुखों और त्रासों को देखते हैं। जिस जिस प्रकार से संसार की रंगभूमि में मनुष्य प्रताड़ित होता है उसी का यथार्थ अनुकरण वे नाटकों मे करते हैं। उनके लिखित दुःखान्तकीयो मे धार्मिक दृष्टिकोण के विपरीत कला का दृष्टिकोण कहीं अधिक है।

यूरिपाइडीज़ (४८०—४०६ पूर्व ईसा)—साहित्यिक प्रतिभा मे युरिपाइडीज़ भी साफ़ोक्लीज़ से कम न थे। उनका जन्म एक सम्पन्न परिवार मे हुआ था और वे बाल्यावस्था से ही प्रख्यात तर्क शास्त्र-वेत्ता सुकरात के शिष्य बन गए थे। अठारह वर्ष की ही अवस्था में उन्होंने साहित्य क्षेत्र मे पदार्पण किया। परन्तु उन्हें बहुत बाद में ख्याति मिली। उन्होंने एक सौ के क़रीब नाटक लिखे हैं परन्तु उनमें केवल अठारह ही प्राप्य हैं। यद्यपि उन्होंने काव्य प्रतियोगिता मे चार बार पारितोषिक पाया फिर भी वे अपने नगर एथेन्स मे लोक-प्रिय न हो सके। अपने जीवन के अन्तिम भाग मे वे निर्वासित हुए और मेसिडोनियाँ मे जाकर बस गए।

साफोक्लीज़ के समान युरिपाइडीज़ ने भी सहगायकों के महत्व को बहुत अधिक मात्रा मे घटाया। यद्यपि ईस्किलस ने यह काम आरम्भ किया था परन्तु युरिपाइडीज़ ही ने इसे पूर्ण किया। इसके पश्चात् उन्होंने नाटकों की कथावस्तु मे बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। कथावस्तु मे उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक प्रश्नों पर मौलिक रूप से विचार करना शुरू किया। प्राचीन पौराणिक गाथाओं का विश्लेषण उन्होंने वैज्ञानिक रूप से किया। अपने राजनीतिक तथा तर्कपूर्ण विचारों के कारण उन्होंने अन्य कलाकारों को क्रुद्ध

कर दिया। परन्तु जितने भी दुःखान्तकी के लेखक यूनान में हुए युरिपाइडीज़ ही उनमे सर्वश्रेष्ठ थे। उनमें दुखान्तकी रचना की श्रेष्ठ प्रतिभा थी; वे उसकी वास्तविक आत्मा से परिचित थे।

युरिपाइडीज़ अपने सिद्धान्तों में पूर्णतया मौलिक हैं और उनके सिद्धान्तों में आधुनिक काल की आत्मा है। उन्होंने जातीय रूढ़ियों और अन्धविश्वासी विचारों को तिलाजलि देकर कलापूर्ण रूप से ही दुःखान्तकी की रचना की। उन्होंने कथावस्तु में सामाजिक तथा राजनीतिक प्रश्नो पर प्रकाश डाल कर दुःखान्तकी की आत्मा मे क्रान्ति मचा दी।

यूनान के इन तीन श्रेष्ठ नाट्यकारो को रंग मच की असुविधाओं के कारण अपनी कला को अनेक रूप से सवारने का संयोग न मिला। यूनानी रग मंच पर सरकारी अनुशासन था और सरकार उसके प्रयोग और नाटकों के प्रदर्शन पर कड़ा नियंत्रण रखती थी। रंग मंच की बनावट तथा उसको सजाने का काम भी अत्यन्त कठिन था। इससे लेखकों को बड़े सावधानी की आवश्यकता रहती थी।

यूनानी केवल स्थायी रंग मंच बनाते थे इससे उनके दृश्यो में भी विशेष रूप से विभिन्नता न होती थी। इसके फल स्वरूप कार्य-सम्पादन और संवाद में अरोचकता आने का डर था। इसके साथ साथ सरकार ने नाटक लिखने और उनके खेलने के नियम बना दिए थे जिन्हें प्रत्येक लेखक को मानना पड़ता था।

यूनानी रंग मंच वास्तव में राष्ट्रीय रंग मंच था। जब कोई नाट्यकार नाटक प्रदर्शित करना चाहता था तो उसे अपने नाटक की पाण्डु-लिपि सरकारी आलोचकों को देकर उनकी अनुमति ग्रहण करनी पड़ती थी। ये सरकारी आलोचक उन नाटकों को जब देश हित के उपयुक्त समझते तभी अपनी अनुमति देते थे। जब कोई नाटक उनके द्वारा उपयुक्त समझा जाता तो उसकी सूचना लेखकों को मिलती थी

और सरकार ही सहगायकों की योजना बनाती थी। नाट्यकार तब पात्रों को उनका पाठ सिखलाते थे और उनको भाव प्रदर्शन की शिक्षा देते थे। इसके लिए कुछ विशेष योग्यता प्राप्त मनुष्य भी रहा करते थे जो पात्रों के सिखलाने का भार ले लेते थे जिसके फलस्वरूप कुछ लोग धीरे धीरे नाट्य प्रदर्शन का व्यवसाय भी करने लगे। आधुनिक काल में भी सिनेमा बनाने तथा उनके प्रदर्शन में सरकारी अनुमति ग्रहण करने की आवश्यकता, इसी प्राचीन नियंत्रण का अनुकरण है। इस व्यवस्था के द्वारा उन प्रदर्शनों को सरकार स्वीकृत नहीं करती जिससे राष्ट्र का किसी प्रकार से अहित हो।

यूनान में जब जब ये नाटक रंगमंच पर खेले जाते थे जनता दूर दूर से और बड़े चाव से उन्हें देखने आती थी। ये नाटक एथेंन्स में ही प्रदर्शित होते थे और अनेक उपनिवेशों के लोग उन्हें देखने के लिए इकट्ठे होते थे। उस समय एथेंन्स एक तीर्थ बन जाता था। प्रत्येक वर्ष तीन राष्ट्रीय उत्सवों पर नाटक खेले जाते थे और उपनिवेशों के लिए वहाँ पहले से ही स्थान नियत रहते थे। इस राष्ट्रीय रंगमंच की मर्यादा की रक्षा राष्ट्र के सभी लोग एक मत से करते थे। कवियों और नाट्यकारों पर राष्ट्र के हित और उत्थान का भार था, इसलिए वे अपने निजी विचार नाटकों में नहीं रख सकते थे। उनको उन्हीं विचारों और आदर्शों को लोकप्रिय बनाने का अधिकार था जिससे राष्ट्र की उन्नति हो। यूनानी नाटक केवल आधुनिक नाटकों की तरह मनोरंजन की सामग्री न थे। उनके द्वारा मनोरंजन तो कम परन्तु धार्मिक श्रद्धा-प्रसार अधिक होता था। वे डायोनिसियस की पूजा अर्चना के साधन थे। फलतः वे केवल राष्ट्रीय उत्सवों पर ही खेले जाते थे।

यूनान में तीन राष्ट्रीय उत्सव मान्य थे। पहला 'दि सिटी डायो-निसियैक' अथवा 'नागरिक पूजा' जो अप्रैल मास में होती, दूसरा

'लिनिया' अथवा 'सुरादिवस पूजा' जो जनवरी मास के दूसरे भाग में और तीसरा 'रूरल डायोनिसिया' अथवा 'ग्रामीण पूजा' जो दिसम्बर महीने में होती थी। इनमें सबसे मुख्य और महत्वपूर्ण उत्सव 'नागरिक पूजा' था जो डायोनिसियस के देव मन्दिर के निकट होता था। इस रंगशाला के भग्नावशेष अब भी हैं। यहीं पर दुःखान्तकी, सुखान्तकी तथा नृत्यगीत प्रदर्शित होते थे जिनसे समाज में राष्ट्रीय भावना जाग्रत होती थी।

रोमीय दुखान्तक-सिद्धान्त—रोम के नाट्यकारों ने नाट्य रचना में मौलिकता न दिखलाई। उन्होंने केवल यूनानी नाट्यकारों का अनुकरण किया और उन्हीं के ढाँचे को अपना कर कुछ निम्न कोटि के नाटकों की रचना की। रोमीय लेखकों में केवल सेनेका ही उल्लेखनीय हैं। उन्होंने दुःखान्तकी की आत्मा को न तो पहचाना और न उसका समीचीन प्रयोग ही किया। रोमीय राष्ट्र के सम्मुख साधारणतयः राजनीतिक प्रथा साम्राज्य-वादी प्रश्न थे और जिन जिन नियमों द्वारा रोमीय समाज की शिक्षा दीक्षा होनी चाहिए थी उन्हीं का उपयोग सेनेका ने अपने नाटकों में किया है। उन्होंने एक विशेष प्रकार की सामाजिक तथा राजनीतिक नैतिकता का प्रसार अपने नाटकों में किया जिसके कारण उनमें दुःखान्तकी की आत्मा मृत प्राय हो गई है। मध्ययुग के पूर्वार्द्ध में दुःखान्तकी की यही हीन दशा रही। धीरे धीरे ईसाई पादरी इसके विरोधी होते गए और उन्होंने नाटकों को पाप के प्रसार का साधन घोषित कर नाट्यकारों को देश निकाला दे दिया। क़रीब तीन शताब्दियों तक नाट्य साहित्य की रचना नहीं हुई। योरप पर अन्धकार युग पूर्ण रूप से छा गया था।

मध्ययुग की नाट्य शैली—मध्ययुग उत्तरार्द्ध में दुःखान्तकी को फिर से जीवन दान मिला। क्रमशः ईसाई पादरियों का विरोध घटने लगा और ईसाई धर्म के रूढ़ि-वादी विचारों तथा सिद्धान्तों के प्रचार के

लिए नाटक अपनाए जाने लगे। पादरियों के धार्मिक व्याख्यान नीरस और शुष्क होते थे और उन्हें रुचिकर बनाने के लिए उनको नाटकों का सहारा ढूँढना पड़ा। साधारण समाज न तो ईसाइयों के धार्मिक विचारों की परवाह करता था और न पादरियों के व्याख्यानों को श्रद्धा-पूर्वक सुनता था इसीलिए पादरियों ने नाटकों के सर्वव्यापी प्रभाव को समझ कर फिर से गिर्जा घरों में नाटकों के प्रदर्शन का आयोजन किया।

पहले पहल जो नाटक गिर्जाघरों में खेले गए वे ईसा के जीवन से सम्बन्ध रखते थे।[1] ईसा का जन्म, उनकी ईश्वरीयता, उनके धर्म-कार्य सब पर ये नाटक प्रकाश डाल कर जनता को धर्म की ओर अग्रसर करने का प्रयास करते थे। इसके पश्चात् पादरियों ने ईसाई सन्तों की जीवनी के विषयों पर नाटक खेलनें की अनुमति दी। सन्तों के धार्मिक कार्य, उनके आश्चर्यपूर्ण तथा लोकरंजक काम, सबका लेखा इन नाटकों मे रहता था जिससे जनता के मनोरंजन के साथ साथ धार्मिक शिक्षण भी होता था। यदि वास्तव में देखा जाय तो इन नाटकों मे (जिनकी संख्या काफ़ी बढ़ी चढ़ी थी) दुःखान्तकी के तत्त्व कोई भी नहीं हैं और न उनमें कोई आकर्षण है।

मध्ययुग दुखान्तक-सिद्धान्त—मध्ययुग के कलाकारों को दुःखान्तकी के कुछ थोड़े से ही तत्व मालूम थे। उनके लिए किसी श्रेष्ठ और सम्पन्न मनुष्य का आकस्मिक भाग्य परिवर्तन ही दुःखान्तकी का आधार था। इस भाग्य परिवर्तन को देखने के पश्चात सहानुभूति, करुणा और भय, तीनों का मन में संचार होता है। उनके विचारों के अनुसार मनुष्य भाग्य के हाथों में खिलौना मात्र है। भाग्य जैसे चाहे वैसे उसको बना बिगाड़ सकता है। भाग्य एक ऐसी रहस्यमय शक्ति है जो कुछ देर तक तो मनुष्य को सुखी देख सकती है परन्तु शीघ्र ही

---

[1] देखिए 'अंग्रेज़ी साहित्य का इतिहास' (नाटक खण्ड)

उसका पतन करा देती हैं। मध्ययुग समाज के ये विचार वास्तव में निराशावादी हैं।[1]

३

आलोचना सिद्धान्त

साधारण रूप से नाटक रचना एक कला है। यूनान देश के प्रथम आलोचक अरस्तू ने कला की परिभाषा देते हुए कहा है कि 'समस्त कला अनुकरण मात्र है'। उनका मतलब इस परिभाषा से यह था कि कलाकार जीवन के विशद विस्तार को देखता है। जीवन के कुछ अंग उसको आकर्षित करते हैं। वह अपनी लेखनी अथवा कूँची उठाकर शब्दों अथवा रंगों के प्रयोग से कविता रच देता है अथवा चित्र खीच देता है। इस कविता अथवा चित्र में उसी जीवन की परछाँई अथवा प्रतिबिम्ब है जिसको कवि या चित्रकार ने पहले देख कर पसन्द किया था। दूसरे शब्दों में वह कविता अथवा चित्र जीवन का अनुकरण है। इसी तरह संगीत, चित्रकला, मूर्त्तकला, नृत्यकला केवल अनुकरण द्वारा ही विकसित हुए हैं। यूनान के एक दूसरे आलोचक और दार्शनिक अफ़लातूँ ने इस परिभाषा की आलोचना की। उन्होंने कहा कि जब सब कलाएँ केवल अनुकरण मात्र हैं तो वे झूठ और मिथ्यावाद का प्रचार करती हैं, इसलिए कलाकारों को सभ्य समाज से दूर ही रखना चाहिए। अफ़लातूँ का विचार था कि मूल रूप में संसार की सारी वस्तुएं केवल ईश्वर के मस्तिष्क में हैं। संसार की सारी चीज़ें उसी मूल रूप का प्रतिबिम्ब मात्र हैं। जब कलाकार सांसारिक जीवन का अनुकरण करते हैं तो वे मूल रूप के प्रतिबिम्ब

[1]देखिए—'काव्य की परख'

का अनुकरण करते हैं। इस तरह वे मूल रूप से और भी दूर जा पहुँचते हैं।

इस आलोचना का उत्तर अरस्तू ने बड़ी समझदारी से दिया। उन्होंने कहा कि यह माना कि कलाएँ केवल अनुकरण करती हैं, परन्तु यह अनुकरण वास्तव में मूल रूप से ही सम्वन्धित है, चाहे वह सम्वन्ध कितने भी दूरी का क्यों न हो। इसलिए कलाओं और कलाकारों को सभ्य समाज मे रहने का अधिकार है। उन्होंने यह भी कहा कि कला मे न तो मिथ्यावाद है और न निस्सारता। उसमे भी सत्य का स्थान है; परन्तु यह सत्य, इतिहास की घटनाओं के समान नहीं, वरन उनमें कल्पना जगत की सत्यता है।[1] इन सिद्धान्तों से यह निष्कर्ष निकलता है कि नाट्यकला एक कल्पना पूर्ण अनुकरण है जो जीवन के सुन्दरतम अंगों का कल्पनात्मक वर्णन करती है। कुछ आधुनिक आलोचकों ने अरस्तू के सिद्धान्त को भ्रममूलक सिद्ध करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार अरस्तू ने जीवन के दो कृत्रिम भाग—'वास्तविक' और 'कल्पनात्मक'—बना लिए हैं जिससे उनकी आलोचना अपूर्ण है और उनका सिद्धान्त भी भ्रम मूलक हो गया है। यदि अरस्तू का सिद्धान्त मान लिया जाय तो शेक्सपियर रचित मिड समर नाइट्स ड्रीम' के कोटि के नाटकों को कला में कोई स्थान नहीं मिलेगा क्योंकि ऐसे नाटकों की वस्तु तो पूर्णतया कल्पना के संसार में है। उसके समस्त मुख्य पात्र दूसरे जगत् के प्राणी हैं।

अरस्तू के पश्चात् इटली के पुनर्जीवन काल में नाट्य कला के कुछ नए सिद्धान्त बनाए गए। अरस्तू की आलोचना सिद्धान्त की पुस्तक 'पोएटिक्स' को लोग भूल गये। आलोचकों ने साहित्य के बहुत से अरवी अनुवादों का अध्ययन किया जिसके फलस्वरूप कास्टेल-

[1] देखिए—'काव्य की परख'

वेट्रों ने एक नया सिद्धान्त बनाया। उनके अनुसार 'कला का बीज भ्रम में है'। कलाकार अपनी कला से एक भ्रमजाल प्रस्तुत करता है जिससे हमें आनन्द मिलता है। इस भ्रम जाल में पड़ कर हमारा तर्क सुप्त हो जाता है। हम जो कुछ अपने सामने देखते हैं उसी को सत्य मान लेते हैं।

कास्टेलवेटरो के सिद्धान्त में भी अपूर्णता है। शायद वे यह भूल गए कि भ्रमजाल सब मनुष्यों को समान रूप से प्रभावित नहीं कर सकता। यदि हम प्रभावित हों भी जायं तो सदैव के लिए वह प्रभाव नहीं रह सकता। यह केवल कुछ ही समय के लिये रह सकता है। इसके साथ-साथ यह भी सही है कि विविध मनुष्यों पर भ्रमजाल का प्रभाव विभिन्न रूप से पड़ता है। इसलिए हम कोई ऐसा भ्रमजाल नहीं निर्माण कर सकते जिसका प्रभाव सब मनुष्यों पर समान रूप से सदा के लिए पड़े। इस सिद्धान्त की यह सबसे भारी कमी है।

फ्रांसीसी आलोचक ब्रूनेलरे के अनुसार नाटक का आधार दो इच्छा शक्तियों का द्वन्द्व है। किसी एक व्यक्ति की दो इच्छाओं, अथवा दो व्यक्तियों की दो इच्छाओं अथवा एक व्यक्ति की इच्छा और एक वर्ग समूह की इच्छा के द्वन्द्व के फल स्वरूप नाटक का जन्म होता है। कभी कभी किसी एक व्यक्ति विशेष की इच्छा भी घटनाओं अथवा अड़चनों से टकरा कर द्वन्द्व उपस्थित कर नाटक को जन्म दे सकती है। जिस किसी भी नाटक में यह द्वन्द्व नहीं वह नाटक नहीं कहा जा सकता। इस सिद्धान्त का साहित्य में बहुत मान रहा है।

कुछ दूसरे आलोचकों ने भी इसी सिद्धान्त को मान कर अपनी ओर से टीका टिप्पणी की है। इनका कहना है कि नाटक में द्वन्द्व तो अवश्य होना चाहिए, परन्तु वह द्वन्द्व विस्तृत अथवा विशाल न होकर एक केन्द्र पर स्थित होना चाहिए। जितना ही यह द्वन्द्व घटनाओं और अड़चनों अथवा अन्य इच्छा शक्तियों से सीमित रहेगा उतना

ही वह आकर्षक तथा दर्शकों को हृदय ग्राही होगा। द्वन्द्व ऐसा होना चाहिए जो ज्यों ज्यों नाटक का अन्त पास आए उतनी ही तीव्रता से वह संशयपूर्ण द्विविधा तथा रंजकता प्रदान करे।

इसी के आधार पर कुछ आलोचकों ने नाटकों में आपद काल[1] की आवश्यकता बतलाई है। जब द्वन्द्व एक केन्द्र पर पहुँच जाता है और जब यह संभावना होती है कि अब सारा खेल बना या बिगड़ा तो उसी समय आपद काल का भी जन्म होता है। यदि नायक आपद-काल झेल गया तो उसकी सफलता है और यदि आपदकाल में उसकी हार हुई तो उसकी असफलता है। इसी सफलता और विफलता के आधार पर सुखान्तकी[2] और दुखान्तकी[3] की रचना हुई है।

उपरोक्त आलोचकों के सिद्धान्तों का साराश यह निकला कि नाटक एक अनुकरणात्मक कला है जो जीवन का कल्पनापूर्ण अथवा भ्रमजालमय प्रतिबिम्ब प्रदर्शित करती है और इस प्रदर्शन में सीमित तथा केन्द्री-भूत इच्छा शक्तियों के द्वन्द्व मे नाटक की आत्मा का प्रस्फुटन होता है।

---

[1] क्राइसिस अथवा केटैसट्रफ़ी

[2] कामेडी

[3] ट्रैजेडी

२

द्वितीय खण्ड

दुःखान्तकी

१

दुःखान्तकी की आत्मा

प्राचीन काल में यों तो कई नाट्यकारों ने नाटक रचना की परन्तु किसी ने भी दुःखान्तकी की आत्मा का विश्लेषण नहीं किया। बाद के दार्शनिकों और तत्ववेत्ताओं ने ही इस विश्लेषण का वैज्ञानिक प्रयास किया है। उन्होंने उस समय के नाटकीय तत्वों को आधार मान कर कुछ सिद्धान्त ढूंढ निकाले और नवीन परिभाषाएं बनाईं।

वास्तव मे दुःखान्तकी की आत्मा और करुण रस में आत्मिक सम्बन्ध जान पड़ता है अथवा ये दोनों साथ ही साथ रहते हैं। करुण रस का जब प्रादुर्भाव होता है तो उसके साथ साथ मानव की अन्य अनुभूतियाँ भी वही रस ग्रहण कर लेतीं हैं और हम और दुखी व्यक्ति एक ही वर्ग अथवा श्रेणी के जीव हो जाते हैं। उदाहरण के लिए जब हम किसी मनुष्य को फाँसी पर लटकते देखे तो हम में गहरी सहानुभूति और करुणा इस लिए होगी कि हम मनुष्य की हैसियत से दूसरे मनुष्य की हत्या देख रहे हैं। परन्तु इसके विपरीत जब हम किसी अन्य जीवधारी को कष्ट में देखते हैं तो हममे सौहार्द की भावना न आकर केवल करुणा की भावना इसलिए प्रकट होती है कि वह जीवधारी हमसे निम्न कोटि का प्राणी है। इसके विपरीत जब हम किसी दैवी घटना के द्वारा मनुष्य को पीड़ित देखते हैं तो हममे अपनी हीनता का भाव जाग्रत होता है, तब हम हताश अथवा अवाक होकर दुर्घटनाएँ देखते हैं और ऐसी भावना मे दुःखान्तकी की आत्मा निहित रहती है।

जर्मन दार्शनिक हेगेल ने दुःखान्तकी की आत्मा का विश्लेषण दो भागों मे किया है। पहले भाग मे धार्मिक दृष्टिकोण है और

दूसरे में सौन्दर्य कला का दृष्टिकोण। हेगेल के विचार से दुःखान्तकी का आधार दोष अथवा अनैतिकता है और उसका सम्बन्ध मनुष्य के आचरण से है। दुःखान्तकी की आत्मा इन अनैतिक दोषों का हल ढ़ूंढ़ती है। इसी हल के ढ़ूंढ़ने में हमे ईश्वर के आचरण की भी मीसांसा करनी पड़ती है तथा ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्ध में हमें अपने विचार प्रदर्शित करने पड़ते हैं। आदि से अन्त तक दुःखान्तकी की आत्मा एक समान रहती है।

दुःखान्तकी की आत्मा का पहला तत्व ईश्वर और मानव के सम्बन्ध का अस्पष्ट रहस्य है। जब हम दुःखान्तकी देखते हैं तो अन्त में यही रहस्यपूर्ण समस्या हमारे सामने रहती है। हम कर्त्ता का कारण से सम्बन्ध जानना चाहते हैं। हम कर्त्ता का घटनाओं से से सम्बन्ध जानना चाहते हैं। हम कर्त्ता के प्रत्येक कार्य का रहस्यमय भेद समझना चाहते हैं मगर हम सफल नहीं होते। इसी रहस्य में दुःखान्तकी की आत्मा प्रस्तुत रहती है।

इसके साथ साथ दुःखान्तकी की आत्मा यह सिद्धान्त रूप से मान लेती है कि संसार मे नैतिकता है। मनुष्य नैतिक आचरण-वाला प्राणी है और उसका उद्देश्य अनैतिकता से बचकर जीवन यापन करने का है। इस नैतिक प्राणी में जब कोई दोष अथवा अवगुण समा जाता है तो दुःखान्तकी की आत्मा मानव-चरित्र-क्षेत्र में इसी दोष की प्रगति देखती रहती है, उसका लेखा रखती है और उसकी अन्य क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं पर दृष्टि रख कर, उस दोष के शमन और उस अवगुण के ऊपर विजयप्राप्ति की समस्या को हल करने का प्रयास करती है।

सिद्धान्त रूप से, मृत्यु दुःखान्तकी का मूलाधार है। बिना मृत्यु के दुःखान्तकी का निर्माण असंम्भव है। यह मृत्यु ही दोष अथवा अवगुण पर विजय पाने का सर्वोत्तम साधन है और यह मृत्यु किसी भी रूप में और किसी भी वेष में प्रस्तुत की जा सकती है—चाहे

वह शरीरिक हो, मानसिक हो अथवा आध्यात्मिक हो।

पूर्व में, विशेषतः भारतवर्ष में दुखान्तकी लिखने की पद्धति नहीं थी। पूर्व की सामाजिक आत्मा इसके विरुद्ध रही। इसके दो कारण थे। पहला तो इससे जनता में ईश्वर के प्रति अश्रद्धा और ईश्वरीय अनुशासन के प्रति घृणा उत्पन्न होने का डर था। इसी लिए यद्यपि बहुत से प्राचीन संस्कृत नाटक दुःखान्तकी के समीप पहुँच तो जाते हैं मगर मृत्यु का आधार नहीं लेते। दूसरे इन लेखकों ने आध्यात्मिक दृष्टि से मृत्युकी महत्ता बिलकुल ही घटा दी थी और उनके विचार से मृत्यु जीवन का अन्त न कर आध्यात्मिक और ईश्वरीय जीवन का द्वार खोलती है फलतः इस भावना से दुःखान्तकी का निर्माण नहीं हो सकता। पश्चिमी देशों ने पहले पहल दुःखान्तकी को अपनाया। यूनानी तथा रोमीय लेखकों ने ही इसकी प्रथा चलाई। यूनानी ही इसमें अग्रगण्य थे और रोमीय केवल उनके अनुकर्त्ता। यूनानी दुःखान्तकी के किन तत्वों को समझते थे इसका अध्ययन सहगायकों के वक्तव्यों से ही स्पष्ट होता है।

२

दुःखान्तकी के तत्व

पहले पहल अरस्तू ने ही दुःखान्तकी की परिभाषा बना कर उस के विविध तत्वों का साहित्यिक विवेचन किया है। यद्यपि उनके सम्मुख बहुत से नाटक लिखे न गए थे फिर भी अपनी मौलिक तथा साहित्यिक सूझ से कारण उन्होंने दुःखान्तकी की समुचित व्याख्या की है। अरस्तू के विचार से दुःखान्तकी किसी गंम्भीर, महत्वपूर्ण तथा विशाल कार्य का रंगस्थल पर अनुकरण है जो भाषा के माध्यम से सौन्दर्ययुक्त तथा आनन्ददायी बन कर भय और करुणा द्वारा हमारी मानवी भावनाओं की अति का परिमार्जन करती है। सम्पूर्ण कार्य से तात्पर्य

ऐसे कार्य से है जिसका आदि, मध्य और अन्त पूर्णरूप से सुगठित रहे और विशाल कार्य से तात्पर्य ऐसे ढ़ाचे से है जो न तो बहुत बड़ा हो और न बहुत छोटा।

अरस्तू ने प्रत्येक दुःखान्तकी के ६ विशेष तत्व गिनाएँ हैं—कहानी पात्र भाषा, विचार सजावट और संगीत। कहानी से तात्पर्य उस गाथा से है जिसे दर्शक जानते हैं परन्तु वस्तु से तात्पर्य उस तत्व से है जो केवल लेखक के मन मे रहता है और दर्शक वृन्द उसमे पूर्णतयः परिचित नहीं रहते। अरस्तू के अनुसार वस्तु ही दुःखान्तकी की आत्मा है। इसके बाद पात्र, भाषा विचार तथा सजावट की महत्ता है। संगीत का भी महत्व कुछ कम नहीं परन्तु सजावट तो बिलकुल बाहरी वस्तु है, और यद्यपि इसका प्रभाव दुःखान्तकी की आत्मा पर बहुत अधिक पड़ता है फिर भी दु खान्तक-कला से इसका कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है। वस्तु के आदि, मध्य और अन्त पूर्णतयः सुगठित होने चाहिए और इसके किसी भी भाग में अव्यवस्था न होनी चाहिए। इस सिद्धान्त से मतलब यह है कि यदि वस्तु से कहीं पर कोई भी स्थल निकाल कर अलग कर लिया गया तो सम्पूर्ण वस्तु अव्यवस्थित हो जायगी और नाटक की कार्य-सिद्धि न होगी। सैद्धान्तिक रूप से वस्तु दो प्रकार की हो सकती है—सरल तथा मिश्रित। सरल वस्तु में किसी प्रकार का यकायक उलट फेर या आकस्मिक परिवर्तन न होकर उद्देश्य की सिद्धि होती है। मिश्रित वस्तु में आकस्मिक परिवर्तन तथा पात्रों मे नवीन चेतनता और अनुभव निहित रहते हैं।

अरस्तू के नाट्य-सिद्धान्त के अनुसार पात्र में चार गुण होने चाहिए—

(१) श्रेष्ठता (२) भाषा प्रयोग की स्वाभाविकता (३) साधारण मानवता तथा (४) समरूपता।

नाटकों के पात्र श्रेष्ठ होने चाहिए जिससे अभिप्राय यह है कि वे

निम्न कोटि के अथवा हत्यारे और दुर्जन नहीं हो सकते। इन पात्रों को वही भाषा बोलनी चाहिए जो इनके वर्ग और श्रेष्ठता के अनुकूल हो: उनमें साधारण मनुष्यों के समान यथोचित कार्य करने की क्षमता अनिवार्य है और उनके चरित्र अथवा कार्य शैली में आकस्मिक विश्रृंखलता न होकर समरूपता होनी चाहिए।

इन गुणों के साथ पात्रों के चरित्र विशेष द्वारा ही दुःखान्तकी का कार्य सम्पूर्ण होना चाहिए, हां, घटनाओं पर भी उसका दायित्व रह सकता है परन्तु मूल दायित्व पात्र के ऊपर ही होना चाहिए। नाट्य-कार का मुख्य उद्देश्य, पात्र को पार्थिव जगत से ऊपर उठा कर एक उच्चस्तर पर रख कर, वस्तु निर्माण है। प्रत्येक दुःखान्तकी के निर्माण में वस्तु के विविध अंगों को एकत्रित कर, आपद काल की सीमा को पारकर उसे मानवी-प्रश्नों का हल प्रस्तुत करना चाहिए।

दुःखान्तकी का प्रभाव—दुःखान्तकी के प्रभाव पर भी अरस्तू ने अपने विचार मौलिक रूप से प्रकट किए हैं। दर्शकों पर दुःखान्तकी का प्रभाव कब और कैसे पड़ता है इसका उन्होंने वैज्ञानिक रूप से अपनी पुस्तक में विवेचन किया है।[1] वास्तव में यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो दुःखान्तकी का समुचित प्रभाव तभी पड़ता है जब—

(१) दोनों प्रतिद्वन्दी पक्ष मित्र, सम्बन्धी अथवा हितचिन्तक हों परन्तु एक दूसरे के शत्रु न हों।

(२) दोनों पक्षों का सम्बन्ध प्रकट और स्पष्ट न होकर गुप्त हो अथवा

(३) कार्य सम्पादन होते होते यह गुप्त सम्बन्ध स्पष्ट हो जाय।

इन उपरोक्त सिद्धान्तों के फलस्वरूप दुःखान्तकी की वस्तु के दो स्पष्ट-विभाग हो जाते हैं। पहला है वस्तु की आपदकाल तक प्रगति

---

[1] पोएटिक्स

और दूसरा उसकी जटिलता का समाधान।

मानव-हृदय पर दुःखान्तकी के प्रभाव का आधार अरस्तू ने चिकित्साशास्त्र का सिद्धान्त माना है। जिस प्रकार निपुण वैद्य रेचक औषधियों से मनुष्य के शरीर को शुद्ध कर देते हैं और शरीर के अन्दर की उष्णता दूर कर शरीर नीरोग करते हैं उसी प्रकार से श्रेष्ठ नाट्यकार दर्शकों और पाठकों की आत्म-शुद्धि, भय और करुणा के संचार से करते हैं। इस भय और करुणा का संचार नायक की अन्तिम दशा के फलस्वरूप होता है। नायक का पतन ही दुःखान्तकी का मूलाधार है। प्रत्येक दुःखान्तकी का नायक श्रेष्ठ, चरित्रवान, नैतिक, निष्पक्ष, निष्कपट तथा विचारशील होता है परन्तु इन गुणों के साथ साथ उसके चरित्र में केवल एक दोष रहता है। इस दोष अथवा अवगुण को हम एकागी दोष कह सकते हैं। यह एकागी दोष उसकी चित्त वृत्ति में अथवा विचार मे हो, नैतिक सिद्धान्त अथवा आदर्श मे हो और चाहे उसके चरित्र में किसी समय भी प्रगट हो, उसकी कारुणिक दशा तथा पतन का मूल का कारण होता है। इसी दोष के कारण वह केवल अपने ही जीवन का अन्त नहीं करता वरन अपने मित्रों, संम्बन्धियों और जिन जिन से उसका लगाव रहता है सवको दुख पहुँचाता है और कभी कभी उनकी हत्या भी कर वैठता है। जव दर्शक दुःखान्तकी देख चुकता है तो स्वभावतः उसके हृदय मे दो विशेष भावों का प्रादुर्भाव होता है। पहला भाव करुणा का होता है और दूसरा भय का। इन भावो की जागृति का कारण मनोवैज्ञानिक है।

जव हम रंगस्थल पर एक श्रेष्ठ, चरित्रवान, निष्ठापूर्ण नैतिक, सुन्दर, स्वस्थ, विचारशील नायक का पतन देखते हैं तो हमारे हृदय में घोर करुणा का संचार होता हैं। स्वभावतः हममें करुणा का भाव रहता भी है और जव हममें अधिक करुणा जाग्रत होती है तो हम दुखी,

उदास तथा म्लान हो जाते हैं। परन्तु जब हम दुःखान्तकी देख चुकते हैं तो विशेष मात्रा में करुणा का संचार हम मे होता है और उसके साथ ही साथ हमारी स्वाभाविक करुणा की मात्रा सामंजस्य स्थापित करना चाहती है। फलतः यदि हममे अधिक अश में करुणा हुई तो उसका परिमार्जन तथा संशोधन होता है और हममे उतनी ही करुणा की मात्रा रह जाती है जो हमें उदास तथा म्लान नहीं बना सकती। उसकी मात्रा केवल उतनी ही रहती है जितनी हमको स्वाभाविक तथा साधारण रूप से मानव बनाए रखने के लिए उचित होती है। जिस प्रकार विरेचक औषधि हमारे शरीर को शुद्ध करती है उसी प्रकार दुःखान्तकी हमारी करुणा का संशोधन करती है।

परन्तु, साधारणतयः करुणा के बाद ही अथवा साथ ही साथ भय का भी संचार होता है। क्योंकि जब हम इतने श्रेष्ठ और विचार शील नायक की विफलता देखते हैं तो हमारे मन में यह भय उत्पन्न होता है कि हमारा गर्व जो अपने पर हम किया करते हैं न जाने कब और कैसे चूर होकर मिट्टी में मिल जाय। गर्व में मत्त होकर हम क्रूर तथा राक्षस बन जाते हैं। दुःखान्तकी के अन्त को देखते देखते हमारे गर्व के अति का संशोधन हो जाता है। इस संशोधन में, कुछ लेखकों के मत के अनुसार हमारी कायरता का भी परिमार्जन होता है। स्वभावतः मनुष्य में भय की भावना हर समय रहती है। जीवन का लोभ हमे सदैव कायर बनाता चलता है और जब हममे भय की मात्रा बहुत बढ़ जाती है तो हमें कायरता पूर्ण-रूप से घेर लेती है और हम कर्त्तव्य-हीन तथा निश्चेष्ट बन जाते हैं। परन्तु दुःखान्तकी जब भय रूपी औषधि हमें और अधिक मात्रा में दे देती है तो हमारे मूल भय की भावना में खलबली मच जाती है और धीरे धीरे हमारी भय की भावना की अति का शमन हो जाता है। कुछ दूसरे आलोचकों का कथन है कि दुःखान्तकी के फल-स्वरूप केवल हमारी दो ही भावनाओं

का परिमार्जन नहीं होता वल्कि हमारी सम्पूर्ण आत्मा का संशोधन होता है और वह शुद्ध हो जाती है। तत्पश्चात उसमें नैतिक तथा आध्यात्मिक सत्य और भी दृढ़ रूप से अपना स्थान वना लेते हैं।

अरस्तू के सिद्धान्तों का यदि हम वैज्ञानिक विश्लेषण करें तो हमें उनके साहित्यिक विचारों की यथार्थता का बोध हो जायगा। पहले तो यह स्पष्ट ही है कि अरस्तू ने कला को नैतिकता तथा आध्यात्मिकता और राजनीति तीनों से सम्वन्धित कर दिया है और दूसरे उनका चरित्र-संशोधन-सिद्धान्त वास्तव में चिकित्सा-शास्त्र के रेचन सिद्धान्त पर ही स्थिर है। परन्तु इसके साथ साथ यह भी जान लेना ज़रूरी है कि अरस्तू का अभिप्राय दुःखान्तकी से आत्मिक अथवा आध्यात्मिक संशोधन न होकर (जैसा कि कुछ आलोचकों का मत है) केवल भावनाओं की अति का ही संशोधन मात्र है। इसका एक विश्वस्त प्रमाण यूनानी जीवन-सिद्धान्त में मिलता है।

यह देखा गया है कि जव से मनुष्य में तर्क और लालसा के गुण उदय हुये उसे उसी समय से एक द्वन्द्व का सामना करना पड़ रहा है। तर्क उसकी आत्मा की आवाज़ है, लालसा है उसके शरीर का आवाहन और आज तक मानव-समाज इन दोनों पन्थों द्वारा सत्यं-मार्ग ढूढ़ रहा है। दार्शनिकों का आदेश है—'लालसा का दमन करो और आध्यात्मिकता के आगे घुटने टेको'। इसके विपरीत सौन्दर्य विज्ञान विशारदों का निर्देश है—'आत्मा के नीरस पथ का त्याग करो, शरीर को प्रफुल्ल, तेज-पूर्ण, सन्तुष्ट और सौन्दर्यपूर्ण वनाओ क्यों कि इसी में आत्मा का निवास है।' पहला आदेश मनुष्य को संसार से विमुख और दूसरा उसमें लिप्त करता है। यूनानियों के सन्मुख इन दोनों विरोधी भावों में सामंजस प्रस्तुत करने का जटिल प्रश्न था। अरस्तू ने इस प्रश्न का हल सहज में ही ढूंढ निकाला और यही हल समस्त यूनानी समाज ने भी ग्रहण किया। यूनानियों

हैं तिस पर भी हम जीवन से हताश नहीं होते। हम नास्तिक न बन कर ईश्वरीय विधान के प्रति अपनी श्रद्धा दिखलाते हैं और यह भली भाँति जान लेते हैं कि नायक की ही कमज़ोरी अथवा उसके दोष के ही कारण उसकी यह दशा हुई। भाग्य का हाथ उसके पतन और विफलता मे था तो अवश्य मगर सबसे ज़्यादा ज़िम्मेंदारी नायक की, उसके अवगुण की, उसके एकांगी दोष की है। यदि यह दोष उसमे न होता तो भाग्य चक्र संभवतः उसका कुछ बिगाड़ न सकता था। यहीं पर हमें उस रहस्य का भास होता है जिसका विवेचन हम पहले कर चुके हैं? क्या वास्तव मे दायित्व भाग्य का है अथवा नायक का? इसका उत्तर समुचित रूप से पाठक अपनी अपनी रुचि के अनुसार दे सकेंगे। इसी मे दुःखान्तकी की प्राचीन काल से लेकर आज तक रहस्यमयी लोक प्रियता है।

यूनान देश के दुःखान्तकीयों में उसके सामाजिक, नैतिक, व्यवहारिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचारों की प्रतिच्छाया है।

३

अंग्रेज़ी दुःखान्तक शैली

पूर्व शेक्सपियर नाट्यकारो ने कोई विशेष नाट्य सिद्धान्त नही प्रस्तुत किया। ये नाट्यकार केवल कवि और कलाकार थे और उनमें सिद्धान्त निर्माण की क्षमता न थी। अंग्रेज़ी साहित्यकारों में किड, नैश तथा मार्लो सबने नाटक लिखे, जिसमे केवल मार्लो ही मौलिक रहे और उन्हीं के नाटकों से कुछ दुःखान्तकी के सिद्धान्त निकाले जा सकते हैं। मार्लो के नाटकों में न तो सहानुभूति, करुणा तथा भय का आवेग है और न दुःखान्तकी की प्रबल भावना ही दिखलाई देती है। उनमे केवल एक ही मुख्य तत्व है; और वह है मानव की अजेय

इच्छा शक्ति । इस अजेय शक्ति के सम्मुख साधारण मनुष्य क्या देवता भी नहीं ठहर सकते, परन्तु मृत्यु ही एक ऐसी शक्ति है जो उसे नीचा दिखलाती है । दुःखान्तकी की आत्मा का स्वर्गीय प्रस्फुटन तथा दुःखान्तक शैली की महत प्रतिष्ठा शेक्सपियर लिखित नाटकों में प्रस्तुत है ।

शेक्सपियर के नाट्य सिद्धान्तों मे दो प्रमुख तत्व मिलते हैं—

पहला—दुःखान्तकी हमारे हृदय में करुणा, भय तथा रहस्य का संचार करती है ।

दूसरा—इसके प्रभाव से हममे द्रोह, नैराश्य तथा पराजय की भावना नही आती बल्कि हममें विश्वास, नैतिकता तथा ईश्वरीय न्याय विधान पर श्रद्धा तथा सन्तोष की भावना जाग्रत होती है ।

हम शेक्सपियर के नाटकीय तत्वों का विस्तृत विवेचन आगे चल कर करेंगे; परन्तु यहाँ यह देख लेना उचित है कि शेक्सपियर के मुख्य सिद्धान्त, प्राचीन युग के सिद्धान्तों से कहाँ तक भिन्न अथवा श्रेष्ठ हैं । इसका निश्चय केवल दुःखान्तकी के प्रभाव के विश्लेपण से ही हो सकता है, क्योंकि यही नियम हमने अन्य शताब्दियों के कलाकारों के लिए भी लागू रखा है ।

अच्छा तो मनुष्य की भाग्य विधायक शक्ति का क्या रूप है ? शेक्सपियर ने इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया है, मगर अपने नाटकों मे इस शक्ति का प्रयोग ऐसे ढङ्ग से किया है कि हम उसके मुख्य तत्व सरलता से समझ सकते हैं । उनके नाटकों के अध्ययन से पता चलता है कि यह शक्ति न तो एक अन्धी, विचारहीन, कठोर लोहे की मशीन के समान है जो अपने सामने की हर वस्तु को पीसती चली जाती है और न यह एक ऐसी शक्ति है जो मनुष्य को उसके सुकर्मों का अच्छा फल और कुकर्मो का दण्ड बराबर-बराबर देती चलती है । वस्तुतः यह शक्ति नैतिक है; परन्तु इसमे कुछ ऐसे अंश

रहते हैं जो समय पाकर, भीषण रूप धारण कर, मनुष्य को अपने चपेट में ले लेते हैं और उसके जीवन मरण के निर्णायक भी बन जाते हैं।

ये छोटे अंश अपने से तो कोई हानि नही पहुँचाते परन्तु ये सदा इस बात की चेष्टा मे रहते हैं कि उनके क्षेत्र में कोई अनैतिकता न फैलने पावे; और इसी उद्योग मे वे कभी-कभी दोष और अवगुण के कीटाणु फैला कर अपनी शक्ति की जाच किया करते हैं। जब अवगुणों के कीटाणु स्वयं फलने फूलने लगते हैं तो नैतिक शक्ति अपनी पूरी ताक़त लगा कर उनको निकाल फेकना चाहती है और इस प्रयत्न में केवल अवगुणों का ही नाश नहीं होता वरन कुछ विशेष मात्रा में गुणों का भी नाश हो जाता है। यद्यपि गुणों का नाश उसे वाछनीय नहीं परन्तु अवगुणों के लपेट में आकर उनकी भी काफ़ी हानि हो ही जाती है। जिस प्रकार लोहे की कोई चीज़ वर्षा में वाहर रख दी जाय तो उस पर जंग लग जाता है और जब हम उस जंग को छुड़ाते हैं तो लोहे को घिसना पड़ता है, उस पर स्वच्छ करने वाले तरल पदार्थ डालने पड़ते हैं और इस प्रयोग में लोहा काफी घिस जाता है और हलका भी हो जाता है परन्तु उसमें दूनी चमक आ जाती है। उसी प्रकार जीवन के दोषों को हटाने के प्रयत्न में जीवन के कुछ सद्‌गुणों का भी नाश होना अनिवार्य है। परन्तु इसके वाद जीवन में शुद्धता तथा शुभ्रता निश्चय रूप से आ जाती है। अथवा गुलाव के रूप रंग को सॅवारने के लिए माली को पौदे काट छाँट कर छोटे और हीन करने पड़ते हैं तभी उसमें नई कलम लगती है उसी प्रकार यह नैतिक शक्ति हमारे जीवन को परिमार्जित तथा प्रस्फुटित करती रहती है।

शेक्सपियर का नाटकीय उद्देश्य न तो ईश्वरीय विधान को मनुष्य से सम्मानित करवाना था और न दैवी विधान की ही श्रेष्ठता को प्रतिपादित करना था। इसी कारण उनके दुःखान्तकी में उसकी

वास्तविक आत्मा का प्रस्फुटन हुआ है। वास्तव में उन्होंने इस रहस्य को रहस्य ही रहने दिया; और यह भी सच है कि बिना इस रहस्यपूर्ण भावना के दुःखान्तकी, दुःखान्तकी हो ही नहीं सकती।

४

शेक्सपियर की दुःखान्तक-शैली

शेक्सपियर के नाटकों में चार प्रधान तत्व हैं—

(क) पात्र

(ख) विषय: वस्तु-निरूपण

(ग) कार्य

(घ) प्रभाव

इन चारों प्रधान तत्वों का हम विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे।

(क) पात्र

शेक्सपियर के मुख्य पात्र विशेषत: श्रेष्ठ वर्गो के हैं। वे राजवंश अथवा समाज में अत्यन्त सम्मानित वर्ग के प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। अथवा हम यह कह सकते हैं कि ये मुख्य पात्र साधारण जन समुदाय से नही चुने गए हैं और उनको नाट्यकार ने दुःखान्तकी के उपयुक्त नहीं समझा है। उदाहरण के लिए उनकी प्रमुख रचनाओं मे ('किंग लियर' में लियर, 'हैमलेट में हैमलेट, 'ओथेलो मे ओथेलो 'मेकबेथ' में मेकबेथ, 'जूलियस सीज़र' मे ब्रूटस, और 'रोमियो ऐण्ड जूलियेट' में रोमियो और जूलियेट) मुख्य पात्र राजा हैं, राजकुमार हैं, सेनापति हैं, राज्य सभासद हैं तथा श्रेष्ठ वंश के प्रेमिक हैं।

देशकाल की अन्धविश्वासपूर्ण रुचि, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, और नाटकीय रोचकता के लिए शेक्सपियर ने प्रेतात्माओं तथा

जादूगरनियों को भी पात्र रूप में रखा है। जैसे हैमलेट के पिता की प्रेतात्मा, बांकों की प्रेतात्मा, सीज़र की प्रेतात्मा तथा मेकबेथ के साथ संवाद करने वाली जादूगरनियाँ पात्र रूप में प्रयुक्त हुई हैं।

इन समस्त नाटकों में यद्यपि अनेक पात्र तथा पात्रियाँ हैं फिर भी केवल एक ही प्रमुख व्यक्ति पर दुःखान्तकी आधारित है। इस मुख्य पात्र को हम नायक कहेंगे और इसी नायक के उत्थान और पतन मे दुःखान्तकी की पूर्णता है।

दुःखान्तकीयों की नायिकाएँ तथा अन्य पात्रिया मुख्य पात्र अथवा नायक से कम महत्वपूर्ण रहती हैं। यद्यपि इन नायिकाओं का वस्तु में वहुत बड़ा दायित्व रहता हैं फिर भी उनका महत्व गौण ही हैं। 'हैमलेट' की ओफोलिया हैमलेट को हताश करती है 'मेकबेथ' की लेडी मेकबेथ, मेकबेथ को उत्तेजित करती है; 'ओथेलो' की डेस्डेमोना अपनी दैवी सरलता तथा विश्वास से ओथेलो को ईर्ष्यालु वनाती है और 'लियर' में पुत्रियाँ लियर को पागल कर देतीं हैं, परन्तु कथानक की दृष्टि से हम हैमलेट, मेकबेथ, ओथेलो तथा लियर नायकों में ही लिप्त रहते हैं, नायिकाओं में नहीं।

नायक—शेक्सपियर के नायकों में कुछ विशेष गुण होते हैं। श्रेष्ठ वश के व्यक्ति होने के अतिरिक्त वे असाधारण श्रेणी के व्यक्ति हैं तथा उनमें असाधारण सहन शक्ति रहती है। इससे यह मतलब नहीं कि वे महान पुण्यात्मा अथवा पापात्मा हैं, परन्तु साधारण मनुष्यों के सभी गुण रखते हुए भी वे उनसे कुछ ही पृथक होते हैं। उनमें वे ही साधारण गुण रहते हैं जो हम सब में स्वभावतः होते हैं परन्तु कलाकार की कल्पना शक्ति के कारण वे सदैव एक उच्च स्तर पर रहते हैं। यद्यपि हममे और उनमें काफ़ी समानता रहती है फिर भी हम अपने को उनसे कुछ अंशों मे अलग देखते हैं। हम यह भी जानते हैं कि जो जो कार्य वे करते हैं, वैसा ही कदाचित् हम भी यदि

उसी परिस्थिति में होते तो अवश्य करते; परन्तु हम यह भी जानते हैं कि शायद जीवन में उनके समान विरला ही कोई व्यक्ति हो।

नायकों के स्वभाव में एकांगी दोष रहता है। उनके विचार स्वभावतः एक ऐसी दिशा और ऐसे पक्ष की ओर खिंचते चले जाते हैं कि वे उसके विपरीत कुछ सोच ही नहीं सकते। विशेषतः वे किसी एक विचार, किसी एक भावना अथवा किसी एक ही वस्तु की ओर इतना झुक जाते हैं कि वे उससे उभर नहीं पाते। उनके मस्तिष्क अथवा हृदय अथवा स्वभाव के इस एकांगी दोष के कारण ही उनकी विफलता रहती है। इस घातक त्रुटि के कारण ही अन्य पात्र भी जो उनके सम्पर्क में आते हैं दुखी होते हैं और वे अपनी भी जान अन्त में खो बैठते हैं। परन्तु इस एकागी दोष के कारण हम उनसे न तो घृणा करते हैं और उनको हास्यास्पद समझते हैं; वरन इतने पर भी हम उनको श्रेष्ठ, प्रतिभाशाली तथा महान व्यक्ति मानते हैं। उनकी विफलता और उनके पतन को देख कर हममे भय, सहानुभूति और करुणा का संचार होता है। यद्यपि उनका शरीर मृत्यु का ग्रास बन जाता है फिर भी हम उनकी आत्मिक और आध्यात्मिक शक्ति से बिना प्रभावित हुए नही रहते। उनकी श्रेष्ठता, उनकी प्रतिभा, उनकी आत्मा किसी भी तरह से हमारे सन्मुख हीन नहीं हो पाती।

नायकों का यह घातक अवगुण केवल दो ही रूप ले सकता है। या तो नायक अकर्मण्य होकर निश्चित अथवा वाञ्छित कार्य न करे; अथवा वह कार्यशील हो और जानबूझ कर वांञ्छित कर्म करते करते एक अत्यन्त अवाञ्छित कर्म कर डाले। उदाहरण के लिए हैमलेट अकर्मण्य होकर वाञ्छित काम अनुकूल समय आने पर भी नहीं करते और मेकबेथ कर्मशील हो, जानबूझ कर अत्यन्त अवाञ्छित कर्म कर डालते हैं। इसी घातक अवगुण के फलस्वरूप दुःखान्तकी के नायक को दो तरह की यातना भुगतनी पड़ती है। एक आन्तरिक और दूसरी

वाह्य। आन्तरिक यातना उसे अपने निजी विचारों के द्वन्द्व और संघर्ष से मिलती है और वाह्य यातना उसे—सामाजिक, राजनीतिक अथवा पारिवारिक—विरोधी दलों द्वारा मिलती है। आन्तरिक रूप से, हैमलेट के हृदय में कर्त्तव्य और संशय में घोर द्वन्द्व होता है, ओथेलो में प्रेम और ईर्ष्या मे, लियर में पितृ प्रेम तथा सन्तान द्रोह की भावना में; और मेकबेथ में महात्वाकाक्षा तथा राज्यभक्ति में। वाह्य रूप से हैमलेट को अपने चाचा का; लियर को अपनी पुत्रियों और अपने जामाताओं का और मेकबेथ को राजनीतिक शक्तियों का विरोध देखना पड़ता है। इन्हीं दोनों संघर्षों के द्वारा ही श्रेष्ठ दुःखान्तकी सम्पूर्ण होती है।

दुःखान्तकी के सम्पूर्ण होते-होते जब नायक स्वयं अपनी हत्या करता है अथवा दूसरों के द्वारा अपनी जान खोता है तो उसके कुछ ही क्षण पहले वह अपनी एकांगी त्रुटि और घातक दोष को जान लेता है। एक तरह से वह अपनी घातक त्रुटि का प्रतिशोध, स्वयं अपने से, प्राण दण्ड ग्रहण कर के लेता है। इसी अन्तिम अनुभव में वह अपना आत्मिक अथवा आध्यात्मिक विश्लेषण देकर दुःखान्तकी का सम्पूर्ण भार ओढ़ लेने का प्रयत्न करता है। इसी क्षण वह दर्शकों में करुणा, सहानुभूति तथा भय का संचार करता है। हैमलेट आत्महत्या के पहले अपनी कमज़ोरी और अपने चाचा के छल को भलीभाँति समझ लेते हैं; ओथेलो अपनी मृत्यु के पहले अपनी राक्षसी ईर्ष्या और डेस्डेमोना की दैवी पवित्रता घोषित करते हैं; मेकबेथ अपनी घृणित महात्वाकांक्षा के लिए रक्तपात करके जीवन की निस्सारता वतलाते हैं और ब्रूटस अपने आदर्शवाद की भूल में अपने मित्र सीज़र की हत्या कर, अन्त में मित्र की लोकप्रियता की वलिवेदी पर वलिदान हो जाते हैं।

(ख) विषय

शेक्सपियर ने अपने नाटकों के समस्त कथानक प्राचीन इतिहासों, जीवन चरित्रों, लोक गाथाओं तथा कहानियों से लिए परन्तु उन्होंने अपनी नाट्य प्रतिभा द्वारा नाटक की वस्तु का निर्माण मौलिक रूप से किया है। उनकी दुःखान्तकीयों में ऐतिहासिक पात्रों की जीवन गाथा की विशेष घटनाएँ ही नाटकीय रूप मे प्रदर्शित हैं। हैमलेट का प्रतिशोध, मेकबेथ का उत्थान और पतन, ओथेलो का प्रतिशोध, लियर का प्रमाद, रोमियो और जूलियट का अटूट प्रेम, ब्रूटस की अदूरदर्शिता तथा आदर्शवादिता इन ऐतिहासिक विषयों की आत्मा है जो वस्तु का आधार बन जाती है। इन वस्तुओं की कम से कम दो और कभी कभी चार धाराएँ तक नाटकों मे प्रवाहित होती रहती हैं। उदाहरण के लिए हैमलेट में मुख्यतः दो-धाराएँ हैं—हैमलेट की अकर्मण्यता तथा उनकी माता, चाचा, और दर्बारियों का छलपूर्ण व्यवहार, मेकबेथ मे तीन धाराएँ हैं—मेकबेथ की महत्वाकाक्षा, लेडी मेकबेथ की कार्य क्षमता, जादूगरनियों की भविष्यवाणी तथा राज्य के असली वारिसों का शक्ति संचय, जूलियस सीज़र मे तीन ही हैं—सीज़र की लोकप्रियता, ब्रूटस का आदर्शवाद तथा कासियस का प्रपंच।

प्रत्येक वस्तु मे ऐसे नायक और नायिका तथा अन्य विरोधी अथवा सहायक पात्रों का सम्मिलन रहता है जिसके आधार पर आन्तरिक तथा वाह्य-द्वन्द्व सफलता पूर्वक प्रदर्शित हो सके। फलतः ब्रूटस तथा कासियस, हैमलेट, ओफीलिया, पोंलोनियस, क्लाडियस तथा जर्ट्रूड; ओथेलो, इयागो तथा कासिओ, लियर, विदूषक तथा पुत्रियाँ, भिन्न-भिन्न नाटकों मे यही सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। कथानक तथा वस्तु को रोचक वनाने के लिए नाट्यकार कुछ विशेष स्थलों, पात्रों अथवा

आदर्शों का निर्माण केवल अपनी कल्पना शक्ति से स्वयं ही कर लेता है। इन दृश्यों अथवा पात्रों का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता, ये केवल कपोल-कल्पित हैं। इन कल्पित स्थलों मे प्रेत आत्माएँ, जादूगरनियाँ तथा अन्य मानसिक प्रलापों का समावेश है। प्रायः सभी श्रेष्ठ दुःखान्तकीयों की वस्तु मे प्रेतात्माएँ तथा जादूगरनियाँ पात्र रूप में आकर कथानक को देशकाल के विश्वास के अनुकूल, मनोवैज्ञानिक तथा रोचक बनाने में सहयोग देती है। मेकबेथ, वाँकों को प्रेतात्मा, हैमलेट, अपने पिता की प्रेतात्मा तथा ब्रूटस, सीज़र की प्रेतात्मा देखते हैं; और मेकबेथ तो जादूगरनियों से संवाद तक भी कर लेते हैं और उनको प्रत्यक्ष देखते हैं।

शेक्सपियर ने प्रत्येक दुःखान्तकी के कथानक मे आकस्मिक दुर्योग अथवा संयोग को भी स्थान केवल इस उद्देश्य से दिया है कि दुःखान्तकी के प्रभाव मे और भी रहस्य आजाय और पाठकों और दर्शकों का कुतूहल और भी बढ़ जाय। इसी सिद्धान्त के अनुसार 'ओथेलो' में डेस्डेमोना का रूमाल कासिओ को अकस्मात मिल जाता है; और 'हैमलेट' मे जब हैमलेट प्रतिशोध लेने पर कमर कस लेते हैं तो उनका शत्रु प्रार्थना करता रहता है; अकस्मात ही राजा डन्कन मेकबेथ के यहाँ मेहमान बनते हैं और अकस्मात ही जादूगरनियाँ सत्य भविष्य वाणी कर बैठती है।

एलिज़बेथ के युग की लोकरुचि के अनुसार अपने नाटकों को लोकप्रिय बनाने, युग का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करने और अधिक से अधिक द्रव्य पाने के लिए, शेक्सपियर ने श्रेष्ठ नाट्यकला के सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए भी हलचल तथा खलबली-पूर्ण दृश्य, उन्माद तथा प्रमाद, क़बरिस्तान, जादूगरनियाँ, प्रेतात्माएँ, हत्याएं, बीहड़ मैदानों, मदान्ध मनुष्यों, तूफानों, युद्धों, लड़ाई, दंगे, त्योहारों के जलूसों तथा अश्लील हास्य, सभी लोकप्रिय स्थलों को अपने कथानकों में यथोचित

स्थान दिया है।

नाट्यकार प्रायः सभी दुःखान्तकीयों में एक न एक विनोदांक अवश्य रखता है जो वस्तु का अधिक प्रभावपूर्ण वना देता है; जैसे मेकबेथ मे, मेकडफ के बालक और माता का संवाद तथा द्वारपाल का दृश्य, हैमलेट मे क़ब्र खोदने वालों का संवाद तथा लियर में विदूषक के संवाद इसके प्रमाण स्वरूप हैं। इस शैली का विस्तृत विवेचन हम मिश्रिताकी खण्ड में करेंगे।

वस्तु-निरूपण

शेक्सपियर की नाट्य कला में वस्तु-निरूपण के तीन खण्ड हैं।

(१) पहले खण्ड में किसी ऐसी स्थिति विशेष का प्रदर्शन अथवा वातावरण का परिचय रहता है जिसमे द्वन्द्व अथवा संघर्ष के वीज निहित रहते हैं। इस खण्ड में हम कुछ मुख्य पात्रों का परिचय पाते हैं और उनके सन्मुख जो प्रश्न उपस्थित होने वाले रहते हैं उनका आभास मिलना शुरू हो जाता है। समस्त दुःखान्तकीयों के प्रथम खण्ड में नाटक की पृष्ठ भूमि जान कर हम मुख्य पात्र से परिचय प्राप्त कर लेते हैं और जिस स्थिति विशेष मे वह है उसे भी पूरी तरह समझ लेते हैं। उदाहरण के लिए 'रोमियो जूलियट' के प्रथम खण्ड में ही हम जान लेते हैं कि दोनों वंशों मे कितनी घोर शत्रुता है और इन्हीं दोनों विरोधी वंशों के रोमियो और जूलियट प्रेम-पात्र में कितने जकड़े हुए हैं। 'हैमलेट' के प्रथम खण्ड मे ही प्रेतात्मा आकर हैमलेट को प्रतिशोध लेने का आदेश देती है और हैमलेट के सामने एक नैतिक परन्तु संशयपूर्ण प्रश्न उठ खड़ा होता है। 'मेकवेथ' में तो भयावह पृष्ठ भूमि के साथ साथ मेकबेथ की महात्वाकाक्षा और राज्यभक्ति में संघर्ष का पूर्ण आभास मिलने लगता है। इस खण्ड को हम एक तरह की तैयारी कह सकते हैं जो आगे चल कर गुल खिलायेगी। इसके

साथ साथ हमसे कुछ अन्य पात्र भी परिचित हो जाते हैं जो आगे चलकर महत्वपूर्ण हो जायंगे जैसे 'हैमलेट' मे होरेशियां, मेकबेथ में जादूगरनियाँ तथा लेडी मेकवेथ; 'सीज़र' में ब्रूटस, कासियस तथा अन्य|दर्बारी।

नाटक के इस प्रथम खण्ड को सफलतापूर्वक निर्मित करने में शेक्सपियर को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, परन्तु अन्त में उनकी अदभुत नाट्यकला काम आई। पहली कठिनाई थी दर्शकों को स्थिति का कलापूर्ण ढङ्ग से परिचय कराना क्यों कि दर्शक न तो कथानक से और न वस्तु से ही पूरी तरह परिचित थे। यदि यह परिचय प्राक्कथन रूप में होता और स्पष्टता से दर्शकों को वतलाया जाता कि कौन सा पात्र कितने महत्वका है तो यह शैली केवल नाटकीय तत्वों की अवहेला ही न होकर अरुचिकर भी होती। लेखक पर कला का भी दायित्व था इसी लिए उसने कुछ सरल साधन ढूढ निकाले। पहला साधन जो उन्होंने व्यवहृत किया वह संवाद, परिस्थिति अथवा कार्य का कलापूर्ण उपयोग था। संवाद द्वारा पात्रों के मन की दशा, परिस्थिति से वातावरण तथा द्वन्द्व का आभास और काय द्वारा उस की प्रतिक्रिया का आभास दर्शकों को स्पष्ट रूप से मिलता है। एक छोटा परन्तु आकर्षक दृश्य जो सबसे पहले हमारे सामने आता है हमें मुख्य पात्र अथवा पात्री और परिस्थिति के विषय मे पूर्णतयः सज्ञान कर देता हैं; हमारी उत्सुकता वढने लगती है और हम संशय के उतार चढाव में लीन होकर नाटक देखने अथवा पढ़ने मे व्यस्त हो जाते हैं। कुछ एक ही दृश्यों के देखने के पश्चात् ही हम परिस्थिति भलीभाँति जान लेते हैं। हैमलेट की मानसिक अवस्था तथा प्रेतात्मा का संवाद; मेकबेथ का जादूगरनियों से संवाद और अपनी स्त्री को उसकी सूचना; 'जूलियस सीज़र' तथा 'कोरियोलानस' मे भीड़ भाड़ और दंगा तथा 'ओथेलो' मे रात्रि के समय की गड़बड़ी, हमे शीघ्र

ही सम्पूर्ण वातावरण से परिचित कर देते हैं।

शेक्सपियर के नाटकों मे संवाद साधारणतयः दो अथवा तीन व्यक्तियों में रहता है। कभी यह कथोपकथन का रूप लेता है कभी स्वगत का और कभी व्याख्यात्मक वर्णन का। हैमलेट तथा प्रेतात्मा, ब्रूटस तथा कासियस, ओथेलो और इयागो का संवाद, हैमलेट का स्वगत; ओथेलो का स्वगत; मेकबेथ का स्वगत और मेकबेथ तथा जादूगरनियों का कथोपकथन; ये सब सवाद, कथोपकथन तथा स्वगत के नाटकीय उपयोग के उदाहरण हैं। कभी कभी व्याख्यात्मक वर्णन से पात्र के चरित्र के विषय में बहुत कुछ जानकारी हो जाती है। जैसे मेकबेथ की क्रूरता को प्रमाणित करने के लिए यदि लेखक अनेक हत्याएं रंगमंच पर प्रस्तुत करता तो संभवतः रंगमच पर जीवित मनुष्यों के लिए स्थान ही न रह जाता परन्तु इसके विपरीत एक दूसरे पात्र द्वारा उसकी क्रूरता का वर्णन किया जाता है। हैमलेट भी व्याख्यात्मक वर्णन के ही द्वारा अपने देश निर्वासन की कहानी स्वाभाविक रूप से कहते हैं और मेकबेथ अपनी महात्वाकाक्षा का वर्णन पत्र द्वारा करते हैं।

साधारणतः नाट्यकार मुख्य वस्तु के निरूपण के साथ ही साथ गौण वस्तु अथवा उपवस्तुओं का भी निरूपण करता चलता है; परन्तु कभी यह मुख्य वस्तु से पृथक भी रहता हैं और आगे चलकर ही उस का समन्वय होता है। 'लियर' में ग्लॉस्टर की, मेकबेथ में मेकडफ़ की उपवस्तु, हैमलेट में पोलोनियस के परिवार की उपवस्तु का प्रदर्शन पृथक रूप से होता है।

प्रायः सभी नाटकों में पहले से ही एक ऐसे तत्व का हमें अनुभव होने लगता है जिसके द्वारा कदाचित नायक की असफलता प्रतिपादित होगी। इस तत्व का प्रभाव सम्पूर्ण वस्तु पर भी पड़ता है। 'मेकबेथ' की जादूगरनिया, 'हैमलेट' की प्रेतात्मा, सीज़र और कोरियोलानस का

उदण्ड जनसमूह, ऐन्टनी की लिप्सा, सभी इसी तत्व के उदाहरण स्वरूप हैं। इसी तत्व के आधार पर कुछ मुख्य पात्रों के वक्तव्य भी भावी असफलता, दुख तथा क्लेश के परिचायक हो जाते हैं। कभी कभी तो ये भविष्य वाणी का रूप ग्रहण कर लेते हैं। 'मेकबेथ' नाटक की जादूगरनियाँ समय के दो विरोधी भावों पर टिप्पणी कर के वही शब्द कहती हैं जो कि मेकबेथ स्वय कहते हैं। रोमियों भी पहले ही से कुछ हतोत्साह हो जीवन के विषय में संशय रखते हैं; ऐन्टनी अपनी लालसा पर जो टिप्पणी करते है उसमे भावी क्लेश के बीज हैं और हैमलेट अपनी भावी असफलता का स्पष्ट लक्षण अपनी शक्तिहीनता स्वीकार करने में प्रकट करते हैं। इन्हीं वक्तव्यों द्वारा वस्तु के प्रति हमारी उत्सुकता बहुत बढ़ती जाती है।

'रोमियो जूलियेट' नाटक में हम देखते हैं कि नायक तथा नायिका प्रेम पाश मे जकड़े हुए हैं मगर दोनों के परिवार एक दूसरे के ख़ून के प्यासे हैं; ओथेलो की जब सब आकांक्षाएं पूरी हो गईं तभी वह हत्या की बात सोचते हैं, बूढ़े लियर अपनी प्रेममयी पुत्री को तिरस्कृत कर प्रपंच-पूर्ण तथा क्रूर पुत्रियों को अपना राज्य बाटते हैं; हैमलेट प्रतिशोध की आवश्यकता तथा उसकी नैतिकता समझ कर भी ठीक समय पर हाथ नहीं उठाते, ऐसे विचारों और कार्यों के फलस्वरूप क्या होगा इसी रहस्य को समझने मे हम लग जाते हैं। सभी नाटको में कुछ न कुछ तो दुःखान्तकी की छाया हमें पहले से ही देख पड़ने लगती है।

(२) दुःखान्तकी की वस्तु के दूसरे खण्ड मे संघर्ष तथा उसकी प्रगति होती है और इस संघर्ष के आन्तरिक तथा वाह्य दो भाग होते हैं। दोनों कभी कभी पृथक रहते हैं और कभी कभी एक ही में मिल जाते हैं, परन्तु आन्तरिक संघर्ष ही में हमें आनन्द आता है और उसी मे नाट्यकार की कला प्रस्फुटित होती है। हर एक नायक के अन्तःकरण का

आन्तरिक द्वन्द्व ही दुःखान्तकी का आधार अन्त में बन जाता है। हैमलेट के अन्तःकरण में प्रतिशोध के विचार तथा नैतिकता में घोर संघर्ष के बाद अकर्मण्यता के कारण दुःखान्तकी सम्पूर्ण होती है, ओथेलो के हृदय में स्निग्ध प्रेम तथा ईर्ष्या मे गहरा द्वन्द्व चलकर कर्मशीलता द्वारा दुःखान्तकी समाप्त होती है, मेकवेथ के मन मे महत्वाकांक्षा तथा राजभक्ति मे संघर्ष होकर दुःखान्तकी का अन्त होता है, ब्रूटस के हृदय में मैत्री तथा प्रजातन्त्र के आदर्शों मे घोर द्वन्द्व के पश्चात् ही उनकी विफलता प्रमाणित होती है, लियर के हृदय में सन्तान प्रेम तथा पितृ-द्रोह के भावों के बीच संघर्ष होकर नाटक की समाप्ति तथा उसके साथ ही साथ उनके जीवन की भी समाप्ति हो जाती है। बाह्य संघर्ष व्यक्तियों, वर्गों तथा परिस्थितियों के बीच मे हमारे सामने आता है। यदि आन्तरिक संघर्ष से उत्तेजित होकर नायक आत्महत्या नहीं कर लेता तो उसके विरोधी दल उसे मौत के घाट उतार देते हैं। परन्तु अधिकतर नायक आत्महत्या से ही छुटकारा पाते हैं। ओथेलो, ब्रूटस, रोमियो आत्महत्या ही करते हैं, केवल हैमलेट और मेकबेथ ही विरोधी शक्तियों के शिकार वनते हैं।

नाटको के आन्तरिक संघर्ष मे एक प्रकार का उतार चढ़ाव रहता है जिसके द्वारा हम नायक के सम्पूर्ण चरित्र को भलीभाँति समझ सकते हैं। इसके द्वारा हम उसकी नैतिकता और अनैतिकता की जाँच करते चलते हैं। जब कभी संघर्ष बहुत आगे वढ़ जाता है तो नाट्यकार विभिन्नता लाने के लिए वाह्य द्वन्द्व के दृश्यों को उपस्थित करता है। उदाहरण के लिए जब जब मेकबेथ, ओथेलो, हैमलेट, लियर तथा ब्रूटस अपने आन्तरिक द्वन्द्व से विकल होते हैं त्योंही दृश्य वदलता है और वाह्य द्वन्द्व की शक्तियों अथवा उपवस्तु की प्रगति शुरू हो जाती है। दोनों प्रकार के संघर्ष क़दम में क़दम मिला कर चलते हैं और जव कभी एक तेज़ी से आगे वढ़ता है तो दूसरा भी उसी तेजी से क़दम

उठाता है। कभी कभी तो दृश्य बहुत ही जल्द बदलने लगते हैं जिससे दोनों प्रकार के संघर्षों का बराबर मात्रा में परिचय मिलता रहता है। इस दृश्य परिवर्तन का एक मनोवैज्ञानिक कारण भी है। यह देखा गया है कि एक ही प्रकार की भावना का प्रदर्शन अथवा दृश्य देखते देखते हम ऊब उठते हैं और किसी नवीन स्थल की प्रतीक्षा करने लगते हैं, और इसी तथ्य को समझकर शेक्सपियर सभी दुःखान्तकीयों में दृश्य परिवर्तन बड़ी मनोवैज्ञानिक पटुता हो करते हैं। 'मेकबेथ' में डन्कन की मृत्यु के पश्चात् जीवन की नैतिक शक्तिया जब मेकबेथ की भर्त्सना शुरू करती है और मेकबेथ अपने राज्यद्रोह की भावना से विकल होकर एक बालक के समान विलाप करने लगते हैं तो उसी समय दृश्य परिवर्तन द्वारा दर्शकों की उत्सुकता और भी बढ़ा दीजाती है। फलतः हम संशय और उत्सुकता के झूले में झूलने लग जाते हैं। चूंकि शेक्सपियर के समय में दृश्य परिवर्तन का कोई वाह्य साधन, परदों इत्यादि का न था और कवियों को अपनी कल्पना द्वारा ही इस कमी को पूरा करना पड़ता था इसलिए शेक्सपियर ने दृश्य परि-वर्तन द्वारा ही नाटकों में वास्तविकता तथा रोचकता लाने का सफल प्रयास किया है।

नाटकीय घटनाओं के क्रम में एक महत्वपूर्ण कला रहती है। वस्तु अथवा उपवस्तु की प्रत्येक घटना वस्तु की प्रगति में पूर्ण सहयोग देती हैं। इन घटनाओं की प्रगति के साथ साथ नायक के चरित्र का भी विकास होता चलता है। उदाहरण के लिए मेकबेथ का घटना क्रम इस प्रकार है।

आन्तरिक

(क) डन्कन की मृत्यु के पश्चात् आन्तरिक द्वन्द्व
(ख) बाँको की मृत्यु के पश्चात् आन्तरिक द्वन्द्व
(ग) जादूगरनियों की भविष्य वाणी के पश्चात आन्तरिक द्वन्द्व

वाह्य

(क) मेकडफ द्वारा शक्तियों का एकत्रीकरण

(ख) राज्यदर्बारियों का एक मत

(ग) एलवर्ड की सहायता से सेना का एकत्रीकरण

इन्हीं घटनाओं द्वारा वस्तु तथा संघर्ष की प्रगति होती है। यही क्रम प्रायः सभी दुःखान्तकीयों में पाया जाता है।

(३) वस्तु के तीसरे खण्ड में आपदकाल की तैयारी होकर उसकी पराकाष्ठा पहुँच जाती है। संघर्ष की अन्तिम सीढ़ी का नाम आपदकाल है। यहाँ पहुँच कर नायक अपनी सफलता अथवा विफलता का अन्तिम निर्णय करता है। इसी जगह पर यह निश्चित जान पड़ने लगता है कि दुःखान्तकी समाप्ति कहा होगी। आपदकाल के अन्तर्गत कई संशय पूर्ण स्थल एक से एक जुड़े रहते हैं और क्रमानुसार आपदकाल की पराकाष्ठा तक पहुँच कर दुःखान्तकी पर पटाक्षेप डालते हैं। इन स्थलों के ६ भाग क्रमानुसार प्रयुक्त होते हैं।

(१) परिस्थिति	(४) उतार
(२) प्रगति	(५) पतन
(३) आपदकाल	(६) शान्ति

इस क्रम को हम चित्र रूप में सरलता से समझ सकते है।

आपद काल

संशय ———————— संशय

संशय ———————— संशय

संशय ———————— संशय

तैयारी ———————— पतन-शान्ति

मुख्य दुःखान्तकीयों-'जूलियस सीज़र', 'मेकबेथ', 'हैमलेट', 'ओथेलो', में हम वस्तु निरूपण के इन छ स्थलों का क्रमानुसार विश्लेपण कर सकते हैं।

जूलियस सीज़र

१—परिस्थिति : सीज़र का ताज पहनना तथा ब्रूटस और कासियस का सन्देह

२—प्रगति : ब्रूटस तथा कासियस का निश्चय

३—आपद्काल : हत्या की तैयारी और हत्या : राष्ट्रीयता तथा मैत्री भाव मे घोर संघर्ष

४—उतार : ब्रूटस तथा कासियस का वैमनस्व

५—पतन : ब्रूटस तथा कासियस की आत्महत्या

६—शान्ति : अगस्टस सीज़र का शान्ति प्रदान

मेकबेथ

१—परिस्थिति : मेकबेथ की वीरता की प्रशंसा तथा मान दान

२—प्रगति : जादूगरनियों की भविष्यवाणी तथा महत्वाकाङ्क्षा का जागरण

३—आपद्काल : महत्वाकाङ्क्षा तथा राजद्रोह में संघर्ष : हत्या : मानसिक पीड़ा

४—उतार : जीवन की विफलता का अनुभव

५—पतन : द्वन्द्व युद्ध तथा मेकबेथ की हत्या

६—शान्ति : मालकम द्वारा शन्ति प्रदान

हैमलेट

१—परिस्थिति : हैमलेट की माता का क्लॉडियस से पुनर्विवाह

२—प्रगति : हैमलेट का सन्देह तथा प्रेतात्मा का आदेश : हैमलेट का पागलपन : पोलोनियस की हत्या

३—आपद्काल : हैमलेट की सन्देह-पुष्टि : प्रतिशोध का निश्चय : ओफीलिया की मृत्यु, माता की मृत्यु : क्लॉडियस की हत्या

४—उतार : लायर्टीज़ की मृत्यु

५—पतन : हैमलेट की मृत्यु

६—शान्ति : फ़ॉर्टिनब्रैस द्वारा शान्ति प्रसार

ओथेलो

१—परिस्थिति : ओथेलो का डेस्डेमोना से विवाह

२—प्रगति : इयागो की शत्रुता द्वारा ओथेलो में ईर्ष्या का उद्भव : मानसिक पीड़ा

३—आपद्काल : ईर्ष्या की पराकाष्ठा : डेस्डेमोना की हत्या

४—उतार : डेस्डेमोना की पवित्रता का वोध : इयागो के छल का अनुभव : मानसिक पीड़ा

५—पतन : आत्म हत्या

६—शान्ति : अन्य लोगों द्वारा ओथेलो की गति तथा उनकी निरपराधिता की घोषणा

समस्त दुःखान्तकीयों में आपदकाल के अन्त होते ही दुःखान्तकी की भावना मे उतार शुरू हो जाता है। इस उतार मे तथा आपदकाल के अन्त में वहुत कम समय का अन्तर रहता है। ज़्यादातर तो आपदकाल के क्षण से ही उतार का अनुभव होने लगना है। ज्योंही नायक अपना कार्य पूरा कर लेता है उतार की भावना जल्दी जल्दी अपना प्रभाव जमाने लगती है। मेकवेथ को जादूगरनियों के दोहरे माने वाले शब्दों के छल का अनुभव होते ही उतार शुरू हो जाता है, हैमलेट जब क्लाडियस की हत्या कर लेते हैं तो उसी क्षण से उतार का आरम्भ होता है; ओथेलो जब इयागो के छल का अनुभव करते हैं तो उस समय से ही उतार का वीजारोपण

होता है, और जब कासियस और ब्रूटस में फूट पड़ जाती है और जब ब्रूटस अनुभव करते हैं कि सीज़र की आत्मा बलवान है तभी से उतार का श्रीगणेश होता है।

उतार की भावना की समाप्ति पतन तक पहुँचते पहुँचते होती है। जब उतार की भावना धीरे धीरे बढ़ती जाती है तो नायक के पास सिवाय आत्म बलिदान के कोई चारा ही नहीं रह जाता। अन्त में वह मानसिक पीड़ा से त्रस्त हो और आन्तरिक संघर्ष से अत्यन्त दुखी हो अपने जीवन का अन्त अपने हाथों कर बैठता है या बाह्य संघर्ष की शक्तियां एकत्र हो उसे मौत के घाट उतार देती हैं; और कभी कभी तो दोनों साथ ही साथ नायक का काम तमाम कर देती हैं। ओथेलो आत्मग्लानि के फलस्वरूप आत्म हत्या करते हैं, ब्रूटस तथा कासियस अपनी निष्फलता से भयभीत हो आत्मबलिदान करते हैं, मेकबेथ ज्योंही आत्महत्या पर प्रस्तुत होते हैं बाह्य शक्तियाँ उनसे बदला लेने पर तुल जाती हैं; हैमलेट बाह्य शक्तियों द्वारा ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

नायक के पतन के बाद ही शान्ति प्रदान के लिए कुछ ऐसे पात्र रंगमंच पर रह जाते हैं जो नायक की अंत्येष्टि क्रिया का भार अपने ऊपर लेकर, नायक की आध्यात्मिक श्रेष्ठता घोषित करते हैं और दर्शकों के हृदय में पवित्र तथा नैतिक भावनाओं का उदय कराते हैं। साधारणतयः जब हम किसी श्रेष्ठ नैतिक भावोंसे पूर्ण नायक का पतन देखते हैं तो हममे जीवन के प्रति विषाद तथा असन्तोष की भावना बढ़ती है। यह विषाद और असन्तोष हमे जीवन से विमुख कर हमें विद्रोही बना सकता है और हम समाज और देश की बंधी बधाई मर्यादा का उलंघन कर सकते हैं। इसी विषाद तथा विद्रोह की भावना का शमन शान्ति भाग मे सम्पूर्ण होता है। वास्तव में शान्ति पाठ तो नायक के अन्तिम वक्तव्य (जो वह अपनी विफलता का कारण

स्वरूप देता है) से ही आरम्भ हो जाता है, परन्तु उसकी पूर्णता उन बचे हुए पात्रों की उपस्थिति द्वारा विशेष रूप से प्रदर्शित होती है। अन्तिम दृश्य मे, बचे हुए पात्रों में से कोई एक ऐसा व्यक्ति दर्शकों के सामने आता है जो जीवन की पूर्णता तथा नैतिकता का प्रतीक होता है। यह व्यक्ति अपने चरित्र और स्वभाव में उन गुणों और लक्षणों का सामंजस्य प्रस्तुत करता है जो जीवन को सफल बनाने में सहयोग देते हैं। इन व्यक्तियों की ओर देख कर हममें जीवन के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा उत्पन्न होती है। 'हैमलेट' में होरेशियो, 'ओथेलो' में कासिओ, 'लियर' में केन्ट, 'मेकबेथ में मालकम, 'सीज़र' में अगस्टस ऐसे व्यक्ति हैं जिनमें जीवन के उन विशेष गुणों का सामंजस्य है जिससे जीवन मे श्रद्धा तथा विश्वास की नीव पड़ती है।

दुःखान्तक वस्तु के इस षष्टवर्गीय क्रम को नाटकीय रूप देने में शेक्सपियर ने जिन कठिनाइयों का अनुभव किया वे वास्तव में बहुत जटिल थीं। पहली कठिनाई जो उनके सामने आई वह वस्तु को आद्योपान्त रोचक बनाने की कठिनाई थी। रोचकता लाने के लिए उन्होंने नायकों में गुण और अवगुण का ऐसा मिश्रण किया और उनके हृदय मे आन्तरिक सघर्ष का ऐसा विधान बनाया कि शुरू से आख़ीर तक हम नायक की मानसिक ग्लानि, उसकी कार्यक्षमता अथवा अकर्मण्यता, उसके जीवन मे दुर्योग अथवा संयोग की आँखमिचौनी का जीवन रहस्य सुलझाते रहते हैं।

नायक के सम्पूर्ण नाटकीय जीवन को रोचक बनाने के बाद दूसरी कठिनाई आपदकाल के पश्चात् वस्तु की रोचकता को संभालने की थी। आपदकाल के अन्त होते ही हमारी उत्सुकता शान्त होकर बिलकुल ही कम हो जाती है। जहाँ भावनाओं का उतार शुरू हुआ हमारे कुतूहल का भी शीघ्र अन्त हो जाता है। हमे यह अनुभव होने लगता है कि केवल इतनी सी ही छोटी कार्य-सिद्धि के

के लिए इतना लम्बा प्राक्कथन लिखा गया। इसके साथ ही हमें वाह्य-द्वन्द्व के प्रतिनिधिस्वरूप व्यक्ति समूह अधिक रुचिकर नहीं होते और हम हमेशा नायक के ही कार्यों में उलझे रहते हैं और यही चाहते रहते हैं कि वाह्यद्वन्द्व के अपरिचित मनुष्य न दिखाई दें तभी अच्छा।

इन दोनों कठिनाइयो का प्रतिकार कलाकार ने वड़ी पटुता से किया है। उन्होंने पहले तो नायक को वहुत देर के वाद रंगमच पर प्रस्तुत किया। जव पृष्ठभूमि और परिस्थिति काफी तैयार हो गई तभी उन्होंने नायक का दर्शन कराया। इसके साथ ही साथ उन्होंने नायक के कार्यों के विरोध में की हुई प्रतिक्रियाओं के समतुलन में बड़ी कला दिखलाई। ज्योंही किसी कार्य की प्रगति आरम्भ होती है ठीक उसी के साथ उसकी प्रतिक्रिया का भी उदय होता है। इस क्रिया और प्रतिक्रिदा के वीच मे समय का अन्तर नही के बरावर रहता है। एक के वाद दूसरे का प्रदर्शन वरावर होता रहता है जिसके कारण न तो कभी रंगमंच ही पात्रों से ख़ाली रहता है और न नाटकीय भावनाओं की प्रगति में ही वाधा पड़ती है। जैसे कि पहले कहा जा चुका है और जिसका विवेचन हम आगे करेंगे, गम्भीर कथा-वस्तु के वीच वीच में विनोदाकों का सम्मिश्रण भी रहता हे जिसके फलस्वरूप वस्तु की रोचकता विरोधी भावों के समतुलन से वढ़ जाती है और हम वस्तु की पूर्णता की ओर वरवस खिचते ही चले जाते हैं। कभी तो युद्ध के दृश्यों के उपयोग से तथा दंगे फ़साद के दृश्यों द्वारा दर्शक का ध्यान आकृष्ट होता रहता है परन्तु विशेष रूप से नायक के मानसिक द्वन्द्व, आत्म विश्लेषण तथा आत्म ग्लानि की रोचक विवेचना द्वारा ही हमारा ध्यान पूर्णरूप से उसी ओर लगा रहता हैं।

(घ) कार्य

दुःखान्तकीयों की कार्य-सिद्धि केवल दो साधनों से होती है। पहला

साधन जो नाट्यकार उपयोग में लाता है वह है नायक का कार्यक्रम। नायक अपनी घातक त्रुटि के द्वारा ऐसा कार्य करता रहता है जो धीरे धीरे दुःखान्तकी की ओर उसे अग्रसर करता रहता है। इसी घातक त्रुटि के फलस्वरूप वह जो काम करने वाला है उसे तो छोड़ देता है और दूसरे संशयात्मक कार्यों में लग जाता है। उससे ऐसे कार्य हो जाते हैं जिनका प्रभाव उसके साथियों और स्वयं उसके ऊपर बड़ा घातक होता है। वस्तु के समस्त ६ अंगों का क्रमपूर्ण प्रतिपादन नायक के कार्यों द्वारा ही होता है।

कभी कभी नायक बिना समझे बूझे अपने को ऐसी परिस्थिति में डाल कर कार्य आरम्भ करता है जिससे दुःखान्तकी का बीजारोपण होता है। रोमियो यह जानते हुए कि जूलियट के परिवार से उनके परिवार की घोर शत्रुता है अपने को उसके प्रेमपाश में जकड़ देते हैं। लियर अकस्मात यह निश्चय कर लेते हैं कि उनके पुत्रियों में समस्त राज्य का विभाजन उचित है और कॉर्डीलिया उनके प्रेम की योग्य पात्री नहीं।

नायक को कभी कभी बनी बनाई परिस्थिति भी मिल जाती है जिसमें पड़ कर वह ऐसे कार्य करने लगता है जिससे दुःखान्तकी का पूरा उपक्रम उपस्थित हो जाता है। हैमलेट के सामने बनी बनाई परिस्थिति है। उनकी विधवा माता जर्ट्रूड ने उनके चाचा से विवाह कर लिया है। हैमलेट के पिता के मरे हुए पूरा दो महीना भी नहीं हुआ कि यह घटना घटी। फिर हैमलेट जब घर आते हैं तो उन्हें उनके मृत पिता की प्रेतात्मा के दर्शन होते हैं और उन्हें प्रतिशोध लेने का आदेश मिलता है।

नाटकों का नायक कभी धीरे धीरे कुछ बाह्य परिस्थिति तथा अपनी घातक त्रुटि के सहयोग से भी ऐसी नवीन परिस्थिति बनाता चलता है जिसमें वह फँसता चला जाता है और अन्त में दुःखान्तकी

पूर्ण करता है। इयागो के प्रपंचपूर्ण संवादों तथा आदेशों और अपनी घातक ईर्ष्या के सहयोग से ओथेलो घातक परिस्थिति बनाते चलते हैं और अन्त में डेस्डेमोना की हत्या कर स्वयं आत्म बलिदान करते हैं। इसी प्रकार ब्रूटस कासियस की बातों से प्रभावित होकर अपनी मैत्री को ताक़ पर रखकर सीज़र के विरुद्ध षड़यन्त्रकारियों के नेता बन जाते हैं। उनका घातक आदर्शवाद उनका प्राण लेकर ही छोड़ता है। मेकबेथ मे तो यह सिद्धान्त अक्षरशः लागू होता है। अपनी घातक महत्वाकाक्षा तथा लेडी मेकबेथ और जादूगरनियों के उकसाने से और डन्कन की कमज़ोरी से उत्साहित होकर मेकबेथ हत्या का मार्ग ग्रहण करते हैं। एक हत्या के बाद अपनी रक्षा के हेतु वे अन्य हत्याएँ करते चलते हैं और अपने लिए ऐसी परिस्थिति बना लेते हैं कि सिवा प्राण देने के उन्हें कोई और चारा ही नहीं रह जाता।

(२) प्रगति

साधारण रूप से नायक अपनी इच्छा अथवा अनिच्छा से कार्य करके दुःखान्तकी के कार्य की प्रगति करता है। नायक के मन की संशयपूर्ण अवस्था द्वारा ही उसकी प्रगति होती है। बनी बनाई अथवा स्वयं बनाई हुई परिस्थिति में उलझ कर वह अपने कार्य की प्रगति करता है और इसका मुख्य कारण नायक का मानसिक द्वन्द्व है यद्यपि बाह्य कारणों का भी उनमें कुछ न कुछ सहयोग अवश्य रहता है। ओथेलो अपने मानसिक द्वन्द्व के कारण ही डेस्डेमोना की पवित्रता पर सन्देह कर उसके विरुद्ध प्रमाण इकट्ठा करते हैं और नाटक की प्रगति होती रहती है। हैमलेट अपने चाचा पर सन्देह कर उसके पाप को कई साधनों से प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं और इसी के द्वारा दुःखान्तकी की विशेष प्रगति करते हैं।

नाटकों के कार्य की प्रगति में शेक्सपियर कुछ दैवी संयोग अथवा दुर्योग का भी उपयोग करते हैं। जब नायक कार्य आरम्भ कर देता है तो उसका प्रारब्ध कुछ ऐसे दुर्योग उसके रास्ते में ला खड़ा करता है कि जिसके प्रभाव से वह दुःखान्तकी की ओर अनायास ही चल पड़ता है। कभी कभी तो ऐसी दैवी घटनाएँ घट जाती हैं जिनके चक्कर में आकर दुःखान्तकी पूर्ण हो जाती है। रोमियों को पत्र वाहक बहुत देर मे ढूँढ़ पाता है और उसे विषपूर्ण औषधि का कोई सन्देश नहीं मिलता है।[1] एडगर को कार्डीलिया के पास पहुँचते पहुंचते इतनी देर लग जाती है कि कार्डीलिया प्राण तज चुकती है।[2] दुर्योग से कासिया को रुमाल मिल जाता है जिससे ओथेलो की धारणा पक्की हो जाती है।[3] हैमलेट के जहाज पर अकस्मात धावा होना है और वे डेनमार्क वापस चले जाते हैं। मेकबेथ को डन्कन के मानदान की सूचना तथा जादूगरनियों की भविष्यवाणी एक साथ ही मिलती है। शायद ये दुर्योग न आते तो संभवतः दुःखान्तकी पूर्ण न होती और नायक अपने कार्य में सफल रहते, परन्तु ये घटनाएँ नायक को और भी विचलित करती हैं। यह ध्यान मे रखना चाहिए कि ये दुर्योग ऐसे नहीं है कि दुःखान्तकी का पूरा दायित्व इन पर रखा जा सके। ये नायक को मूल रूप से नहीं उकसाते वरन जब नायक साधारण परिस्थिति से कही आगे जा चुकता है तभी ऐसे दुर्योग उपस्थित होते हैं। नाट्य कला की रक्षा के लिए ये दुर्योग कलाकार बहुत कम संख्या में प्रयुक्त करता है।

कार्य की प्रगति का विशेष दायित्व नायक के चरित्र पर ही रहता

---

१ रोमियो ऐन्ड जूलियट

२. किंग लियर

३. ओथेलो

है। कलाकार कभी कभी नायक के चरित्र में कुछ असाधारण रोगों का भी उपयोग करता है। उन्माद, मायावी प्रेतात्माओं का दर्शन, निद्रित अवस्था में कार्य करना, भ्रममूलक विचारों की प्रचुरता अनेक पात्रों मे दिखलाई पड़ता है। हैमलेट कुछ समय वाद उन्माद के लक्षण प्रगट करते हैं वे पिता की प्रेतात्मा का दर्शन कर लेते हैं मगर वह प्रेतात्मा उनकी माता जर्ट्रूड को नहीं दिखलाई देती। मेकवेथ को जादूगरनियां दिखलाई देती हैं; पर वे बाँको को नही दिखाई देतीं; मेकवेथ को वॉको का प्रेत दिखलाई देता है मगर लेडी मेकवेथ को वह नहीं दिखलाई देता लेडी मेकवेथ निद्रित अवस्था मे चलती फिरती हैं और अपने छलपूर्ण कार्य की कहानी कहती हैं।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो नायक की उपरोक्त मानसिक अवस्थाओं से कार्य का आरम्भ कभी नहीं होता। यदि कार्य का आरम्भ इन अवस्थाओं द्वारा हुआ होता तो नायक कभी दुःखान्तकी का श्रेष्ठ नायक रह नहीं सकता था। कार्य का आरम्भ तो नायक अपने सहज स्वभाव से ही करता है और ये रोग उसे वहुत वाद में घेरते हैं। परन्तु इस मानसिक अव्यवस्था का सम्वन्ध उनके चरित्र से वहुत ही गहरा रहता है। इनसे कार्य की प्रगति तो शायद कम होती है मगर उनके चरित्र का विश्लेषण वड़ी पूर्णता से होता है। और फिर ये प्रेतात्माएं कोरी कल्पना मात्र नहीं हैं; इनका नायक के मानसिक विचारों से घनिष्ट सम्वन्ध है। यह हमेशा होता है कि ये प्रेतात्माए केवल नायक को अथवा उनके वहुत निकट के मित्रों को छोड़ और किसी को नहीं दिखलाई पड़तीं। इसका एक गूढ मनोवैज्ञानिक कारण भी है।

साधारणतयः किसी परिस्थिति में पड़कर और अपने मन में सन्देह, संशय अथवा आकांक्षा लेकर नायक कार्य शुरू करते हैं। संशय और आकांक्षा दोनों ही उनके मन की ऐसी अवस्था वना देते हैं कि

उनको प्रेतात्माएँ दिखें तो कोई आश्चर्य नहीं। हैमलेट के मन में संशय बहुत पहले से है। उनकी माता ने उनके चाचा से इतनी जल्दी विवाह कर लिया, अकारण ही अथवा विना किसी प्रमाण-पूर्ण बीमारी से उनके पिता की मृत्यु का ढिंढोरा पीटा गया। यह सब बातें ऐसे समय हुईं जब वह डेनमार्क से बाहर थे। उनके मन में सदेह स्वाभाविक है कि इसमें ज़रूर कुछ न कुछ रहस्य है। ऐसी मानसिक अवस्था के उपरान्त उनके पिता की प्रेतात्मा उन्हें दिखलाई पड़ती है। परन्तु इसका क्या कारण है कि दोनों द्वारपालों और उनके मित्र होरेशियों को भी वह दिखलाई पड़ती है परन्तु जर्ट्रूड को वह बिलकुल ही नहीं दिखलाई देती? इसका एक आध्यात्मिक कारण है। होरेशियो के हृदय तथा हैमलेट के हृदय में समरूपता है। दोनों ही एक दूसरे के अनन्य मित्र हैं, उनके हृदय मे समान भावना का जाग्रत होना आश्चर्य की बात नहीं। दोनों द्वारपालों में भी अपने पुराने राजा के प्रति राजभक्ति, प्रेम तथा श्रद्धा है, हैमलेट के प्रति तो और भी प्रगाढ़ प्रेम है और इसी से वे भी अपने मृत राजा की प्रेतात्मा का दर्शन करते हैं। मगर जर्ट्रूड की अवस्था अब दूसरी है। उसने अपने पहले पति की आत्मा का सम्मान न किया, उन्हे भूल कर उसने वासना के वशीभूत होकर अपने देवर से विवाह कर लिया। वासना-विष से उसकी आँखों पर परदा पड़ गया है। उसकी कोमल, स्निग्ध तथा प्रेमपूर्ण भावनाएँ वासना के कारण दूषित हो गई हैं। उनमें न तो पहला प्रेम प्रवाह है और न पहली स्निग्ध-पवित्रता। इसी विपरीत दशा के कारण उसकी आँखें अन्धी हैं।

(३) आपद्काल—नायक का मानसिक संघर्ष अथवा द्वन्द्व जब पराकाष्टा तक पहुँचता है तभी आपदकाल का जन्म होता है। नायक अपने मानसिक द्वन्द्व द्वारा ही आपदकाल की सृष्टि करता है। मानसिक द्वन्द्व तथा घातक त्रुटि दोनों के सम्मिलन से एक ऐसी

स्थिति आ खड़ी होती है जो नायक को अन्तिम निर्णय करने पर विवश करती है। इसी अन्तिम निर्णय में आपदकाल की पूर्त्ति होती है। हैमलेट क्लॉडियस की हत्या का निश्चय करते हैं; ओथेलो डेस्डेमोना की हत्या का निश्चय करते हैं, ब्रूटस सीज़र की हत्या का निश्चय करते हैं, इन्हीं निश्चयात्मक कार्यों से आपदकाल संपूर्ण होता है। आपदकाल का वीज तो परिस्थिति में पड़ता है परन्तु नायक के आन्तरिक तथा वाह्य-द्वन्द्व द्वारा ही उसकी पूर्त्ति होती है। मानसिक द्वन्द्व के अन्त मे ही आपदकाल की पूर्णता है।

(४) उतार—दुःखान्तकी के उतार तथा आपदकाल की समाप्ति में शायद कुछ ही समय का अन्तर होता है। ज्योंही आपदकाल का अन्त हुआ त्योंही नायक अपने कार्यों मे एक तरह की ढील डाल देता है, परन्तु उस समय उसे अपने चरित्र के विषय में कुछ नवीन अनुभव होते हैं। वह अपनी घातक त्रुटि को अब ठीक ठीक समझने लगता है और ऐसा मालूम होता है कि उसकी आँखो पर से एक परदा हट गया है। जिस घातक त्रुटि के सहारे वह आगे बढ़कर अपनी सफलता देखना चाहता था वह उसे एक जलहीन कुँए के सामने लाकर खड़ी कर देती है। उसे तब यह ज्ञात होता है कि वास्तव में उसकी ही कमज़ोरी और भूल के कारण यह परिस्थिति आ पहुँची। अपनी भूल का नग्न स्वरूप देखते ही उसे जीवन के प्रति कोई लोभ नहीं रह जाता। वह अपने जीवन की विफलता घोषित कर या तो आत्महत्या करता है या वाह्य शक्तियों के सामने वलि हो जाता है। इस तथ्य के उदाहरण हम पहले देख चुके हैं।

(५) पतन—जिस तरह आपदकाल तथा उतार में समय का अन्तर नहीं रहता उसी प्रकार उतार तथा पतन में भी समय का कम अन्तर रहता है। ज्योंहीं उतार भाग में नायक अपने कार्य का वीभत्स रूप अन्त मे देखता है त्योंही वह अपने पतन की तैयारी कर

लेता है। हैमलेट अपनी घातक त्रुटि को समझ कर ज्योंही पतन पर उद्यत होते हैं उन्हें पता चल जाता है कि उन्होंने विष पान कर लिया है; ओथेलो अपनी ईर्ष्या का नग्न रूप देखकर आत्महत्या कर लेते हैं, ब्रूटस अपने आदर्शवाद की भूल स्वीकार कर बलिदान हो जाते हैं और मेकबेथ अपनी महत्वाकांक्षा की निस्सारता घोषित कर युद्ध में जान खो देते हैं।

(६) शान्ति—पतन के उपरान्त शान्ति प्रतिष्ठापित होती है। बचे हुए महत्वपूर्ण पात्र नायक की समालोचना का भार ओढ़ कर देश अथवा परिवार के जीवन में शान्ति स्थापित करते हैं। 'हैमलेट' में होरेशियो 'ओथेलो' मे कासिओ, 'लियर' में केन्ट, 'सीज़र' में अगस्टस शान्ति-स्थापकों के प्रतीक हैं।

(घ) प्रभाव

शेक्सपियर की दुःखान्तकीयों का प्रभाव दर्शकों पर गहरे रूप में पड़ता है। यदि हम पटाक्षेप के उपरान्त अपने विचारों का विश्लेषण करें तो हमें यह प्रतीत होगा कि जिस नायक का पतन हमने देखा वह वास्तव में इसी योग्य था। कभी कभी तो हमें नायक की घातक त्रुटि पर अचानक क्रोध आता है और हम उसकी आलोचना करने लगते हैं। कहा जाता है कि जब शेक्सपियर का नाटक 'ओथेलो' लन्दन में खेला जा रहा था और जब वह दृश्य आया जहाँ ओथेलो डेस्डेमोना की हत्या का निश्चय करता है तो उसी क्षण एक स्त्री दर्शक अपनी जगह से उठ कर रंगमंच पर भागी हुई आई और ओथेलो को एक बड़े ज़ोर का तमाचा मार कर कहा, ' मूर्ख! तूझे कुछ सूझता नहीं क्या ?" इस घटना से दो बातें प्रमाणित होती हैं। पहली तो यह कि दुःखान्त-कीयों का कितना गहरा हम पर प्रभाव पड़ता है और दूसरा यह कि हम नायक को ही काफी मात्रा में अपराधी ठहराते हैं। 'शान्ति भाग'

के प्रदर्शित होते ही हम यह समझ लेते हैं कि नायक की घातक त्रुटि के ही कारण ऐसी परिस्थिति आई। यदि हैमलेट में कर्त्तव्यनिष्ठा होती, यदि मेकवेथ में अनैतिक महात्वाकांक्षा न होती, यदि ओथेलो मे अन्धी ईर्ष्या न होती, यदि ब्रूटस मे घोर आदर्शवाद न होकर सासारिकता होती; यदि लियर मे लड़कियो को पहचानने की शक्ति होती तो संभवतः दुःखान्तकी न होती।

इसके साथ ही साथ हमें नायकों से घृणा नहीं होती और वे हमारे सामने हीनावस्था मे नहीं आते। इसका कारण यह है कि उनकी घातक त्रुटियाँ पहले तो उस कोटि की नहीं जिन पर कड़ा लाञ्छन लगाया जा सके। वे त्रुटिया हर श्रेष्ठ वर्ग के मनुष्य में हो सकती हैं। हम यह जान कर भी कि ये त्रुटियाँ उनमे हैं उनको श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं क्योंकि उनमे कुछ ऐसे श्रेष्ठ गुण भी हैं जिनकी तुलना सहज नहो। मेकवेथ मे अनैतिक महत्वाकाक्षा है, मगर क्या किसी व्यक्ति मे ऐसी भीषण शक्ति वाली आत्मा मिल सकती है जो दिन रात अपने थपेड़ों से उसका जीवन नीरस, पातकी तथा दुखी बनाती रहे, हैमलेट में यह सही है कि कर्त्तव्य-परायणता नहीं परन्तु क्या किसी साधारण व्यक्ति की दृष्टि मे मानव जीवन की इतनी महत्ता है? किसमें इतनी श्रेष्ठ धार्मिकता तथा इतनी उज्ज्वल दार्शनिकता है? ब्रूटस में भ्रममूलक आदर्शवाद है परन्तु क्या किसी अन्य व्यक्ति मे उनके समान कर्त्तव्य-निष्ठ मैत्री का आदर्श है? ओथेलो मे ईर्ष्या अवश्य है परन्तु उसके ऐसा प्रेमी शायद ही कहीं मिले। इन गुणों को देख कर हम नायकों के प्रति सहानुभूति तथा श्रद्धा रखते हैं, परन्तु उनकी त्रुटियों का अनुभव हमे पूर्ण रूप से हो जाता है और हम एक तरह से उनके पतन से ही सन्तुष्ट होते हैं।

इसी उपरोक्त भावना के फलस्वरूप न तो हम निराश होते हैं और न हममें जीवन के प्रति अश्रद्धा होती है। हममें यह भावना

कभी नहीं होती कि मनुष्य केवल भाग्य के हाथ का खिलौना है, वह हीन तथा निकृष्ट जीव है। इसके विपरीत हममें वही भावना प्रधान रूप से रहती है जिससे हम जीवन की विशालता, उसकी नैतिकता तथा उसकी महानता से प्रभावित होकर सांसारिक कार्यों में लगे रहें।

शेक्सपियर के प्रायः सभी दुःखान्तकीयों मे नायक के पतन के साथ साथ कई ऐसे महत्वपूर्ण पात्रों का पतन होता है जिनमे वास्तव में कोई ऊपरी बुराई नहो थी। ये पात्र, सरल, नैतिकतापूर्ण तथा संसारी होते हुए भी नायक के विनाश के साथ ही साथ अपना भी विनाश कर लेते हैं अथवा भाग्य चक्र के चपेट में आकर उनका अवांच्छित क्षय हो जाता है। इस अवाछित विनाश की भावना में एक दैवी रहस्य है जिसको समझना तर्क के परे है। जीवन को चलाने वाली नैतिक शक्ति अपना कार्य बिना किसी रोक टोक के करती रहती है और यदि कोई अवरोध उसके सामने आता है तो वह उसे भी कुचलती हुई आगे वढ़ जाती है। इस नैतिक शक्ति की चाल मे अन्य लोग भी नायक के साथ रह कर एक तरह का अड़ंगा पैदा करते हैं और उनका भी विनाश हो जाता है। अगर वास्तव मे देखा जाय तो उनमें भी कुछ त्रुटि अवश्य होगी जो उन्हें विनाश के रास्ते पर ला खड़ी करती है और वे बरबस उसी रास्ते पर चलने पर तुल जाते हैं। सरलचित्त डेस्डेमोना, सहज स्वभावपूर्ण ओफीलिया, उपेक्षिता पोर्शिया, पितृभक्ति पर अटल कार्डीलिया, शान्तिप्रिय लेडी मेकडफ, अनायास ही अपना विनाश देखती हैं। इन पात्रों के विनाश से हम पर विषाद की गहरी छाया पड़ती है और साथ ही साथ जीवन मरण के रहस्यमय प्रश्न का हल न पा कर हम उसी रहस्य को समझने में लीन हो जाते हैं। यह रहस्य शेक्सपियर के दुःखान्तकीयों का प्रधान लक्षण है।

नाट्यकार ने जिन अद्भुत तथा दैवी घटनाओं अथवा पात्रों का उपयोग नाटकों में किया है उनका भी प्रभाव दुःखान्तकी के रहस्य को

और भी गूढ़ बनाता है। हैमलेट के पिता की प्रेतात्मा, सीज़र की प्रेतात्मा, जादूगरनियाँ, बॉको की प्रेतात्मा, पात्र रूप में आकर नाटक को एक रहस्यपूर्ण पृष्ठभूमि देकर उसके प्रभाव को और भी रहस्यपूर्ण कर देते हैं। हम दुःखान्तकी के कारण और पात्रों के दायित्व को जानने में अपनी सारी बुद्धि ख़र्च कर देते हैं। हम हर तरह से यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि आख़िर ऐसा हुआ क्यों? तरह तरह के प्रश्न हमारे मन मे उठते हैं—यदि हैमलेट के पिता की प्रेतात्मा उन्हें आदेश न देती तो शायद दुःखान्तकी न होती? यदि लेडी मेकवेथ तथा जादूगरनियों का सहयोग न होता तो कदाचित् दुःखान्तकी न होती? यदि कासियस ब्रूटस को न उकसाता तो कदाचित् सीज़र के विरुद्ध षड़यन्त्र न होता? यदि इयागो का प्रपंच न होता तो शायद डेस्डेमोना की मृत्यु न होती? इसके उपरान्त जब हम हैमलेट, मेकवेथ, ब्रूटस तथा ओथेलो के चरित्रों का मनन करते हैं तो हमें यह विश्वास होने लगता है कि शायद उनको वाह्य प्रोत्साहन न मिलने पर भी वे हत्याकाण्ड कर बैठते। मगर क्या हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि केवल नायक ही इसका ज़िम्मेदार है? कदाचित् नहीं। यही प्रश्न उठकर हमें और भी रहस्य में डाल देते हैं और हम दायित्व का प्रश्न हल नहीं कर पाते। यह रहस्यपूर्णता भी इन दुःखान्तकीयों का विशेष गुण है।

नाटकों में जिस दैवी-शक्ति द्वारा इतनी अवाछित घटनाएँ घटित होती हैं, उस शक्ति का क्या स्वरूप है इसको समझने के उपरान्त भी नाटकों का रहस्य कम नहीं होना। इस शक्ति के केवल दो रूप हो सकते हैं। पहला तो यह कि जब यह शक्ति इतनी अवाछित हत्याएं करा देती है और अनेक सरल स्त्री पुरुष इसकी उच्छङ्खलता के शिकार हो जाते हैं तो वास्तव में यह कोई अनैतिक शक्ति है जो संसार पर राज्य करती है। परन्तु यह धारणा भी ग़लत साबित होगी

यदि हम दुःखान्तकीयों के प्रभाव का विश्लेषण करें ? क्योंकि जब दुःखान्तकी देखने के पश्चात् न तो हम निराश होते हैं और न हममें विद्रोह की भावना जाग उठती है तो यह शक्ति अनैतिक नहीं हो सकती। जब हम नायक के पतन से सन्तुष्ट होकर उसे भी उसकी विफलता का ज़िम्मेदार समझते हैं तो यह शक्ति चाहे जो कुछ और हो उच्छृंखल अथवा अनैतिक नहीं। उदाहरण के लिए दुःखान्तकीयों के समस्त नायक कार्य करने के लिए पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं। उन्हें कोई वाह्य शक्ति स्पष्ट रूप से बाधित नहीं करती परन्तु कार्यों के फल-स्वरूप ही नायकों का पतन होता है इसलिए इस शक्ति को हम अनैतिक किसी भी दृष्टि से नहीं कह सकते। ब्रूटस से बढ़कर शायद ही किसी ने राष्ट्र का हित सोचा हो मगर अपनी करनी से ही वह हत्याएँ और रक्तपात कराते हैं; इयागो से बढ़कर शायद ही किसी ने इतना पातक प्रपंच रचा हो मगर वह स्वयं उसका शिकार हो जाता है, हैमलेट से ज़्यादा शायद ही किसी ने मानव-जीवन की इतनी अधिक महत्ता समझी हो और रक्तपात से घृणा दिखलाई हो मगर वे स्वयं रक्तपात का कारण बन जाते हैं, लेडी मेकबेथ ने सोचा था कि वह अपनी आन निभाने के लिए अपने दुधमुँहे बच्चे की भी हत्या कर सकती हैं मगर समय आने पर वह रक्त के चिन्हों से डर कर उन्मादित होती हैं, मेकबेथ ने सोचा था कि अपनी महत्वाकांक्षा को पूर्ण करने के लिए वह अपना अगला जन्म भी न्यौछावर कर देंगे मगर कुछ ही समय वाद उन्हें संम्पूर्ण जीवन की निस्सारता मालूम पड़ जाती है। इन उदाहरणों से यह कदाचित् प्रमाणित होता है कि मनुष्य अपने भाग्य का विधाता स्वयं ही है। हाँ, यह अवश्य है कि दुर्योग और संयोग भी असमय आकर उसके भाग्य पर प्रभाव डालते हैं। वस्तुतः सभी नायकों के सामने वे ही प्रश्न रहते हैं जिनको वे हल नहीं कर पाते, उनको वे ही कार्य करने

पड़ते हैं जिनके करने में वे असफल रहते हैं।

जिस घातक भाग्य का शेक्सपियर उपयोग करते हैं वह न तो नायक का मनमाना पतन कराता है और न उन्हें कर्मानुसार ही दण्ड देता है। इस शक्ति को किसी प्राणी विशेष अथवा वंश विशेष से शत्रुता नहीं। यूनानी नाट्य सिद्धान्तों के अनुसार भाग्य, अपना बदला पिता के बजाय उसके पुत्रों और प्रपौत्रों से नहीं लेता। शेक्सपियर की धारणा यह है कि भाग्य नैतिक भित्ति पर टिका हुआ है और यह संसार के समस्त नैतिक शक्तियो का प्रतीक मात्र है। इसका साम्राज्य इतना विस्तृत है, इसका विधान इतना जटिल है कि उसका रहस्य मनुष्य मात्र की समझ के परे है। इस शक्ति का शासन नायक के अन्तर्जगत और सारे बाह्य जगत पर रहता है और जब नायक इस अलौकिक शक्ति के विपरीत अपनी घातक त्रुटि के कारण कार्य आरम्भ करता है तो ऐसे कार्यों का क्रमानुसार तांता लग जाता है कि नायक उनमें उलझता ही चला जाता है और अन्त में प्राण खोकर, अपने घातक अवगुण को पहचान कर, अपने से ही प्रतिशोध लेता है।

वास्तव में यह शक्ति पाप तथा अनैतिक दुर्गुणों की घोर विरोधी है। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि शायद दुर्गुणों ही द्वारा नायक की सफलता हो रही है। हैमलेट के पिता को मार कर क्लाडियस अपनी भावज से व्याह कर सुखपूर्वक राज्य करते हैं; डन्कन की हत्या कर मेकवेथ गर्व से शासन करते हैं और सीज़र को मार कर षड़यन्त्रकारी सफल प्रतीत होते हैं। मगर दुष्टता की यह विजय केवल क्षणिक विजय है। थोड़ी ही देर बाद नैतिक शक्तियाँ अपना दल बाँध कर अनैतिकता पर धावा बोल देती हैं और शीघ्र ही उन्हें परास्त कर देती हैं। तब हमें अनुभव होता है कि उस क्षणिक सफलता का कारण उन पात्रो की अनैतिकता नहीं वरन उनकी बची खुची नैतिकता ही

रही होगी। नैतिक तथा अनैतिक भाव मनुष्य में सदैव रहते हैं परन्तु साधारणतः नैतिक भावों का ही पलड़ा भारी रहता है और अनैतिक भाव दबे पड़े रहते हैं, और जब कभी समय पाकर वे सिर उठाते हैं तो उनका सिर नैतिक शक्तियाँ कुचल देती हैं। इस संघर्ष में नायक की बुराइयों के साथ-साथ अनेक भलाइयों का भी तहस नहस हो जाता है। उसकी नैतिकका भी अनैतिकता के साथ दण्डित होती है। न जाने कितने भले लोगों तथा नैतिक पात्रों का क्षय हो जाता है। यह नायक को पावन बनाने के लिए यदि क्षम्य नही तो अनिवार्य अवश्य हैं। दुःखान्तकी वास्तव में बुराई के विरुद्ध भलाई की प्रतिक्रिया अथवा प्रतिशोध है।

५

आलोचना सिद्धान्त

अंग्रेज़ी जर्मन तथा फ़ासीसी साहित्यकारों तथा साहित्यिक दार्शनिकों ने दुःखान्तकी के विषय, निर्माण-कला, पात्र चयन, कथोपकथन तथा उसके अन्तिम प्रभाव पर अपने अपने मत प्रकट किए हैं। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध नाट्यकार, कवि तथा आलोचक ड्राइडेन ने नाटकों को मानव प्रकृति और मानव जीवन का सजीव प्रतिबिम्ब माना है। इससे प्रमाणित होता है कि उन्होंने यूनानी नाट्यकारों तथा आलोचकों की परिभाषा को अपनाया है और नाटक को अनुकरणात्मक कला का एक अंग माना है। यूनानी आलोचक अरस्तू का भी यही मत था। संस्कृत के नाट्यकारों ने भी यही परिभाषा अपनाई है और वे भी नाटकों को अनुकरणात्मक ही मानते हैं।

नाटक के विषय-चयन में, ड्राइडेन के अनुसार, हमें वह कथानक तथा वस्तु उपयोगी होगी जिसमें मानव-जीवन भाग्य चक्र से उद्वेलित

हो। जब मानव-जीवन में भाग्य उथल पुथल तथा उतार चढ़ाव प्रस्तुत करता है तो उसमें हमें नाटक-रचना के उपयुक्त कथानक प्रस्तुत हो जाते हैं। नाट्यकार इसी विषय के आधार पर श्रेष्ठ रचना कर सकते हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में भी ड्राइडेन ने यूनानी आलोचकों का सहारा लिया है। यूनानी आलोचकों ने अपनी परि-भाषा तथा नाट्यकारों ने अपनी रचना मे भाग्य को भी एक ज़बर-दस्त पात्र-विशेष माना है जो समय समय पर आकर मानव से उसकी कमज़ोरियों का प्रतिशोध लेता है। कदाचित संस्कृत साहित्य में भाग्य को इतना महत आसन नहीं दिया गया है। उनके नाटकों मे देवताओं की कपट लीला अथवा छल-पूर्ण प्रपंच, उनकी पुष्प वर्षा तथा भक्त की परीक्षा आदि भाग्य के अन्तर्गत किसी हद तक माने जा सकते हैं।

विषय चयन पर अंग्रेज़ी आलोचकों ने बहुत ज़ोर दिया है। प्रायः सभी पुराने आलोचक जो यूनानी आलोचना शास्त्र से प्रभावित हुए विषय-चयन पर बहुत ज़ोर डालते हैं। नाटक का विषय उनके लिए बड़ा महत्वपूर्ण है। विषय को महत्व देने का साधारण कारण यह था कि वे विषय को नाटक का मूलाधार मानते थे। विषय की श्रेष्ठता अथवा हीनता पर ही नाटक की सफलता वे स्थिर करते थे। प्राचीन संस्कृत नाटकों तथा आलोचकों में भी हम यही सिद्धान्त देखते हैं। संस्कृत नाट्यकारों ने विषय-चयन पर इतना ज़ोर दिया कि उन्होंने नाटक की परिधि से बहुत से विषय निकाल फेंके और केवल सुखान्तक-विषयों और कथानकों के उपयोग की आज्ञा दी। कदाचित उनका विश्वास था कि केवल सुखान्तकी से ही आदर्श रूप में हर्ष तथा आनन्द प्रकट किया जा सकता है। दुःखान्तकी शायद इसलिए मान्य न थी कि मनुष्य जब अपने को दुख तथा आपत्ति मे ग्रस्त पाता है तो साधारणतः उसके मन में दैवी शक्तियों के प्रति अविश्वास तथा क्रोध की अग्नि

भड़क उठती है। मनुष्य को इस अविश्वास और क्रोध प्रकट करने का अवसर देना उन्हें मनोनीत न था। इसी कारण समस्त संस्कृत नाटक सुखान्तक ही हैं।

जर्मन, अंग्रेज़ी, यूनानी, तथा संस्कृत के श्रेष्ठ आलोचकों ने नाटक के लिए श्रेष्ठ वर्ग के मनुष्यों से संबंधित कथानकों को ही उपयोगी तथा मान्य समझा है। यूनानी तथा अंग्रेज़ी साहित्यकार जिन्होंने यूनानी प्रभाव अपनाया, श्रेष्ठ वर्ग के मनुष्यों को ही अपने नाटकों में स्थान देते रहे। इन्होंने दुःखान्तक-रचना में इसे अनिवार्य माना है, हाँ सुखान्तक रचना में इसकी वे नितान्त अवहेलना करते हैं। संस्कृत के सुखान्तकीयों में भी हम हमेशा श्रेष्ठ वर्ग के समुदाय का चित्र पायेंगे। 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'मुद्राराक्षस', 'धनञ्जय विजय', 'कर्पूर मंजरी', 'महावीर चरित', 'उत्तर राम चरित', 'मालती-माधव' सभी में श्रेष्ठ वर्ग के मनुष्यों का ही जीवन प्रदर्शित है। यूनानी नाटकों में 'ऐलसेस्टिस', 'मिडिया', 'हिपालिटस', 'आयोन', 'इलेक्ट्रा', 'आरेस्टीज़', 'इडिपस', 'ऐन्टीगनी', 'एजैक्स', सभी श्रेष्ठ वर्ग के कथानक स्वरूप हैं। अग्रेज़ी के हैमलेट, ओथेलो, मेकबेथ, जूलियस सीज़र भी उच्च वर्गों से ही सम्बन्धित हैं।

उच्च वर्ग से संबन्धित कथानकों के अपनाने में एक महत्व-पूर्ण कारण था जो दुःखान्तकी के प्रभाव से संबन्धित है और जिसका विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे। इन आलोचकों का विश्वास था कि उच्चवर्ग-राजे, महाराजे, श्रेष्ठ वीर तथा सेना नायकों का जीवन जब हम दुःखान्तकी में देखते हैं तो हमारे ऊपर बड़ा गहरा असर पड़ता है। अपने सामने जब हम महान शासकों, श्रेष्ठ राजाओं तथा राजकुमारों का पतन देखते हैं तो हमारे हृदय में एक विचित्र प्रकार के भय तथा करुणा का प्रसार होता है। भय हमें चेतावनी देता है कि अमुक कमज़ोरी अथवा पाप का फल ऐसा होता है और करुणा

हमारे हृदय तथा मस्तिष्क का संशोधन कर हममें मानवी भाव जाग्रत करती है। प्राचीन आलोचकों के मतानुसार साधारण श्रेणी के मनुष्यों के जीवन पर आधारित श्रेष्ठ दुःखान्तकी की रचना नहीं हो सकती।

आधुनिक युरोपीय नाटक लेखकों ने इस रूढ़ि के विरुद्ध नए सिद्धान्त वनाए हैं। इन नए आलोचकों मे मारिस-मेटरलिंक का स्थान अग्रगण्य है। वे वेलजियम निवासी थे और उन्होंने अपने नाट्य सिद्धान्तों तथा नाटकों में साधारण वर्ग के मनुष्यों के जीवन को दुःखान्तकी का समुचित विषयाधार माना और साधारण मानव की महत्ता घोषित की। उनके विचार में श्रेष्ठ वर्गों का जीवन, नाटकीय रूप में हम को विशेष रूप से प्रभावित नहीं करता। इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि हममें उस वर्ग के प्रति केवल वाह्य-सहानुभूति ही हो सकती है, वे हमारे हृदय को नहीं छू सकते, वे हमसे वहुत दूर रहते हैं। और दूसरे हम अपनी कल्पना का विशेष सहारा लिए विना उस वर्ग के सुख-दुख का समुचित अनुभव भी नहीं कर सकते। कल्पना की शक्ति हममें, साधारणतयः न तो अधिक होती है और न पर्याप्त ही। इसलिए हमें कल्पना-शक्ति को विशेष रूप से जाग्रत कर, अपने निजी व्यक्तित्व को खो कर उसका अनुभव करना पड़ता है। संक्षेप में उनका जीवन हमारा जीवन न होने के कारण हम पर वह दूर ही से प्रभाव डाल सकता है जो केवल अस्थाई रहेगा। इसके विपरीत साधारण वर्ग का जीवन हममें इतना घुला मिला है कि उससे प्रभावित होने के लिए हमें अपनी कल्पना का सहारा नहीं लेना पड़ता। वह स्वाभाविकतः हमें आकर्षित करता है क्योंकि उस वर्ग का जीवन हमारा निजी जीवन है। वह हमें आन्तरिक रूप से प्रभावित करता है और इस कारण उसका प्रभाव स्थायी रहता है। साधारण वर्ग का जीवन ही श्रेष्ठ दुःखान्तकी का मूलाधार है। मेटरलिंक ने इसी सिद्धान्त को अपनाकर श्रेष्ठ दुःखान्तकीयों की रचना की है। प्रेम

और मृत्यु के रहस्य-पूर्ण आवर्त में डाल कर उन्होंने पात्रों को हमारे बहुत समीप ला दिया है।

दुःखान्तकी के निर्माण-शैली के सिद्धान्तों पर सभी आलोचक एक मत हैं। सभी ने वस्तु के सामञ्जस्य और गठन को आवश्यक ही नहीं वरन अनिवार्य माना है। नाट्यकार को अपना ध्येय स्थिर करने के पश्चात् वस्तु का निर्माण करने का आदेश सभी ने दिया है। यूनानी तथा अंग्रेज़ी आलोचकों ने निर्माण शैली पर विस्तार से उपदेश दिए हैं। वस्तु-सामञ्जस्य की आवश्यकता को समझाने के लिए अंग्रेज़ी कलाकारों ने अनेक उपमाओं द्वारा अपने आदेश का समर्थन किया है। श्रेष्ठ कपड़े की बिनावट समान, श्रेष्ठ चित्र की अद्भुत अनुरूपता समान तथा मनमोहक वाटिका के सम रूप श्रेष्ठ वस्तु का निर्माण वाञ्छनीय है। उनके मत से वस्तु के तीन खण्ड होते हैं। आरम्भ, मध्य तथा अन्त। इन तीनों खण्डों में पूर्ण अनुकूलता तथा अविरोध होना चाहिए। तीनों को एक दूसरे की पूर्ति करनी चाहिए। यदि नाटक के वस्तु के आरम्भ और अन्त मे, अथवा मध्य और अन्त अथवा आरम्भ और मध्य में सम्पूर्ण समपूरकता नहीं तो कलाकार दोषी है और नाटक निम्नकोटि का है।

वस्तु-निर्माण में, साधारणतः प्राचीन आलोचकों ने केवल एक ही कार्य का प्रतिपादन अभिनीत बतलाया है। एक ही कार्य आदि से अन्त तक प्रस्तुत रहना चाहिए। उस एक ही कार्य का लेखा, नाट्यकारों को, नाटकीय वस्तु के तीन पूर्वोक्त खण्डों में पूर्ण-रूप से प्रस्तुत करना चाहिए। इसके विपरीत आधुनिक कलाकारों ने अनेक कार्यों को नाटक में ग्राह्य माना है। इस वर्ग के आलोचकों का कथन है कि केवल एक ही कार्य के प्रतिपादन से नाटक के प्रभाव में कमी आ जाती है और दर्शक ऊब उठता है और अनेक कार्य-पूर्ण नाटकों में आकर्षण बहुत देर तक रहता है। इस प्रश्न पर दोनों वर्गों के

आलोचकों के प्रमाणों पर समुचित रूप से ध्यान देने पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आधुनिक नाट्यकार ही वास्तविकता के अधिक पास हैं। जीवन की अनेकरूपता के अनुसार वस्तु के कार्य में भी अनेकरूपता होनी चाहिए क्योंकि नाटक सम्पूर्ण जीवन का ही चित्र है।

प्राचीन आलोचकों ने वस्तु निरूपण में, काल, देश तथा कार्य का समीकरण तथा उनकी अनुरूपता का विशेष ध्यान रखा है। रंगमञ्च पर, कार्य उतनी ही देर मे समाप्त होना चाहिए जितनी देर कार्य को प्राकृतिक अथवा मूल रूप में लगी थी और एक ही स्थान पर तथा एक ही देश में कार्य की समाप्ति होनी चाहिए। इन प्रतिबन्धों के लगने से, प्राचीन नाटकों में अरोचकता आ गई है। काल, देश तथा कार्य को सीमित कर देने से नाटक अस्वाभाविक हो गए हैं। जीवन में, देश, काल तथा कार्य की सीमा का प्रतिदिन हम उलंघन देखते हैं। और जब नाटक का ध्येय जीवन का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करना है तो इस नियम के उलंघन से वह जीवन के और भी समीप आ जाता है।

संस्कृत के प्राचीन नाट्यकारों ने पात्रों के चुनाव में भी अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए हैं। उन्होंने नायक को प्रधान माना है और उसे सर्वगुण सम्पन्न प्रदर्शित किया है। वे विशेषतः वीरता तथा साहस के प्रतीक हैं और जन साधारण के लिए आदर्श-समान हैं। यूनानी तथा अंग्रेज़ी नाट्यकारों ने इस सिद्धान्त को नहीं अपनाया। उनका विचार था कि सर्व गुण-सम्पन्न नायक जीवन में असंभव है और यदि कोई है भी तो वह मनुष्य नहीं, देवता भले ही हो। इसके साथ-साथ उनका यह भी विश्वास था कि मनुष्य की महानता के लिए कुछ त्रुटि का होना ज़रूरी है नहीं तो अवगुणहीन मनुष्य सांसारिक जीवन मे किस काम का। अवगुण ही मनुष्य की मनुष्यता का लक्षण है। इस तथ्य को समझ कर यूनानी तथा अंग्रेज़ी नाट्यकारों

ने यद्यपि, संस्कृत नाट्यकारों के समान श्रेष्ठ वीर अथवा राजे नायक रूप में अपनाए, परन्तु उनमें कुछ न कुछ मानवी त्रुटि अथवा अवगुण का समावेश कर उन्हें मनुष्य बनाने का प्रयास किया। इसी सिद्धान्त के अनुसार उनके श्रेष्ठ नायक निर्मित हुए हैं। उन सब में एकांगी दोष है। एकागी दोष से अभिप्राय ऐसे दोष से है जो उनको किसी ख़ास तरह पर सोचने या किसी ख़ास तरह से कार्य करने या किसी ख़ास तरह से कल्पना करने पर विवश कर देता है। इसी एकांगी दोष के कारण वह अपना कार्य पूरा करते करते रह जाता है और या तो अपनी हत्या स्वयं करता है या उसकी हत्या अन्य पात्र करते हैं; और इस अन्तिम कार्य से वह अपनी महानता घोषित करता है।

एकागी-दोष-पूर्ण नायक के चरित्र में एक विशेष लक्षण यह होता है कि नाटक की समाप्ति के पहले जब वह अपनी त्रुटि और अपना मानसिक अवगुण भलीभाँति समझ लेता है तब हमसे विदा होता है। अपना अवगुण, पूर्ण रूप से समझने के पश्चात् उसका जीवन उसे महत्त्वहीन तथा निरर्थक जान पड़ने लगता है और हम भी ऐसे अवसर पर दर्शक की हैसियत से यही चाहते हैं कि वह अपने जीवन का अन्त कर ले।

नाटकों के प्रभाव से सम्बन्धित सिद्धान्तों मे प्राचीन यूनानी तथा संस्कृत नाट्यकारों में मतभेद कुछ विशेष है। संस्कृत के नाटक आदर्शवाद का प्रचार, आनन्द तथा सुधार की भावना द्वारा करते हैं। इस सिद्धान्त से यूनानी तथा अंग्रेज़ी नाट्यकार सहमत हैं। दोनों ही के अनुसार आनन्द तथा सुधार नाटक का ध्येय होना चाहिए। परन्तु अंग्रेज़ी नाट्यकार खुल्लमखुल्ला सुधार की भावना फैलाने के विरोधी हैं उन्होंने आनन्द को प्रथम स्थान दिया है तथा सुधार को गौण। डि क्विन्सी, जान ड्राइडेन, तथा अन्यान्य श्रेष्ठ अंग्रेज़ी आलोचकों ने आनन्द को ही प्रधानत्व दिया है।

नाटक के नैतिक प्रभाव के संबन्ध में हेगेल तथा वर्गसों के सिद्धान्त अत्यन्त महत्व-पूर्ण हैं। वर्गसाँ का सिद्धान्त है कि दुःखान्तकी की रचना केवल सभ्य समाज के द्वारा ही हो सकती है। जब समाज सभ्यता और संस्कृति के रास्ते पर अग्रसर हो जाता है तो समाज के प्राणियों में स्मृति का भाण्डार भरने लगता है। इसी स्मृति-कोष से हमें सहानुभूति तथा प्रेम की व्यंजना मिलती है। इसी के फल-स्वरूप हमारे हृदय तथा मस्तिष्क का परिमार्जन होता है। जब लेखक मृत्यु की कर्कशता तथा क्रूरता के सामने नायक को झुका देता है तो कुछ देर के लिए तो हम स्तब्ध रह जाते हैं, परन्तु शीघ्र ही हमें धीरे-धीरे आत्मा की सत्यता, उसकी अजेयता, उसकी शालीनता तथा उसकी श्रेष्ठता का अनुभव होने लगता है जिसके द्वारा हममें जीवन के प्रति श्रद्धा उपजती है।

हेगेल ने दुःखान्तकी को पूर्णरूप से प्रभावोत्पादक बनाने के लिए बड़ा सरल उपाय बतलाया है। उनका सिद्धान्त है कि द्वन्द्व बुरे तथा अच्छे, नीच तथा उच्च, अथवा पाप तथा पुण्य मे न दिखला कर अच्छे और अच्छे, पुण्य तथा पुण्य और उच्च और उच्च में ही प्रस्तुत करना चाहिए। यदि यह द्वन्द्व आन्तरिक रूप मे प्रस्तुत हो सके तो सोने मे सुहागा मिल जाय। मनुष्य के चरित्र के गुणों को ढूँढ़ कर, उन्हीं गुणों में यदि द्वन्द्व उपस्थित किया जाय तो दुःखान्तकी अति श्रेष्ठ होगी। उदाहरण के लिए शेक्सपियर लिखित दुःखान्तकीयों मे 'किंग लियर' सबसे श्रेष्ठ इसी कारण है। लियर पुत्री प्रेम के आधिक्य के ही शिकार हैं। उसी प्रकार 'हैमलेट' अत्यधिक दार्शनिकता तथा श्रेष्ठ विचारों के शिकार हैं। गुणों के अन्तर्द्वन्द्व द्वारा प्रतिपादित दुःखान्तकी वास्तव में बड़ी प्रभावपूर्ण होगी।

प्रायः सभी साहित्य के लेखकों ने दुःखान्तकी के प्रभाव-स्वरूप उन्हीं भावनाओं को स्तुत्य माना है जिसके द्वारा मनुष्य मे संसार की

नैतिक-शक्तियों अथवा ईश्वर अथवा जीवन की श्रेष्ठता पर दृढ़ विश्वास हो। ऐसी दुःखान्तकी जिसके फल-स्वरूप मनुष्य नारकीय प्राणी जान पड़े कला की दृष्टि से हीन है। दुःखान्तकी के अन्तिम चरण मे ऐसे भावों का प्रसार होना चाहिए जिससे हममें ईश्वर के प्रति श्रद्धा, जीवन के प्रति प्रीति, तथा नैतिकता के प्रति प्रेम की भावना बढे। नैराश्य की भावना का प्रसार तो अत्यन्त सरल और सहज है। मनुष्य को भाग्य के चपेट में डालते जाइए और अन्त में उसे फाँसी पर लटकवा दीजिए या पानी मे डुबा दीजिए। परन्तु मानव जीवन की श्रेष्ठता तथा उसकी शालीनता का दिग्दर्शन कराना महत्वपूर्ण कार्य है। यह दुःखान्तकी का आभूषण ही नहीं वरन प्राण है।

हम अब अन्यान्य लेखकों के सिद्धान्त उन्हींके शब्दों में प्रस्तुत करेंगे जिनसे उपरोक्त विचारों का समर्थन होगा।

६

आलोचकों के वक्तव्य

आर० फ्लेकनो—"जिस प्रकार एक बहुत अच्छे बिनावट के कपड़े की रूप रेखा होती है उसी प्रकार अच्छे नाटक की रूप रेखा होनी चाहिए। जिस प्रकार सुन्दर कपड़े में न तो गाठ रहती है, न छीर रहता है और न उसके धागे ही निकले रहते है उसी प्रकार नाटक के सभी भाग सुसंगठित होने चाहिए।

नाटक एक सुन्दर, सुव्यवस्थित तथा सामंजस्यपूर्ण चित्र के समान है। उसकी वस्तु, उसका आकार, उसका रूप रंग, उसकी रंजना, उसका वातावरण सब में आकर्षक समन्वय होना चाहिए।

जैसे किसी सुन्दर वाटिका का स्वरूप आकर्षक तथा मनोहर

होता है वैसे ही नाटक का भी स्वरूप होना चाहिए। सुन्दर वाटिका वनाने मे, क्यारियाँ, वीथियाँ, उद्यान-पथ, तरु, तरुलताएँ-सवका हृदय ग्राही सामंजस्य रहता है वैसा ही सामजस्य एक सुन्दर नाटक में होता है।

नाटक रचना अन्य रचनाओं से अधिक कठिन है क्योंकि नाट्य-कार जीवन के सभी अंगों पर रचना कर सकते हैं और समाज के सभी लोग उसकी आलोचना कर सकते हैं। इसके विपरीत अन्य रचनाओं की आलोचना केवल उस विपय के मर्मज्ञ ही कर सकते है।"[1]

वेन जॉनसन—"एक संम्पूर्ण तथा सुगठित कार्य को हम नाटक का वस्तु कहेंगे। इसमे इतनी पूर्णता होती है कि हम विना इसको हानि पहुँचाए न तो इसमे कुछ जोड़ सकते हैं और न कुछ वढ़ा सकते हैं। परन्तु इस वस्तु के विविध अंगों में विस्तार की संम्भावना हो सकती है।

श्रेष्ठ वस्तु में आदि मध्य और अन्त का अपूर्व सामंजस्य रहता है। किसी शरीर को देखने पर जो प्रभाव आंखों पर पड़ता है वही प्रभाव स्मरणशक्ति पर वस्तु का पड़ता है। यदि शरीर वहुत वड़ा है तो आखे उसे पूर्णतया नही देख पातीं और अगर वहुत छोटा है तो आँखे प्रभावित ही नहीं होतीं। उसी प्रकार यदि वस्तु का रूप विशाल है तो उसे हम सरलता से स्मरण नही कर सकते और यदि उसमें वहुत ही कम विस्तार है तो हम उससे आकर्षित ही नहीं होते।

नाट्यकार को वस्तु के विविध स्थलों की सीमा वना लेनी चाहिए जिससे रचना प्रभाव-पूर्ण हो। उन्हे समय का विशेप ध्यान रखना चाहिए।"[2]

१—आर० फ्लेकनो—'डिसकोर्स ऑव दि इंगलिश स्टेज'
२—वेन जानसन—'डिसकवरीज़'

जान ड्राइडेन—"फ्रांसीसी नाट्यकारों के चुने हुए वस्तु में केवल एक ही कार्य का सम्पादन रहता है। नाटक के सभी पात्र उसी के सम्पादन में लगे रहते हैं और प्रत्येक दृश्य एक ही कार्य में संलग्न हो उद्देश्य की पूर्त्ति करता रहता है।

इसके विपरीत अंग्रेज़ी नाट्यकारों के वस्तु में अनेक उपवस्तु भी रहती है जिसमें कुछ कम महत्वपूर्ण पात्रों द्वारा कार्य पूरा होता है। ये उपवस्तुएँ तथा पात्र सूर्य मण्डल के नक्षत्रों के समान हैं। जिस प्रकार से ये नक्षत्र सूर्य के चारों ओर घूमते हैं और उसी के द्वारा उन की सत्ता बनी रहती है उसी प्रकार मुख्य वस्तु के अन्तर्गत उपवस्तु रहती है।"[1]

जान मिल्टन—"देश, काल तथा कार्य की मर्यादा का निर्वाह जिस कथानक से हो उसे नाटक का वस्तु कहेंगे।"[2]

जॉन ड्राइडेन—"नाटक मानव प्रकृति का सच्चा तथा सजीव प्रतिबिम्ब है। उसमे जीवन की चित्रवृत्तियों तथा लालसाओं का समावेश रहता है। भाग्य चक्र से आन्दोलित जीवन उसका प्रधान वस्तु है। उसका उद्देश्य आनन्द तथा शिक्षा प्रदान है।"[3]

जॉन ड्राइडेन—"नाटक मे केवल एक ही मुख्य पात्र की प्रधानता रहती है। नाटक के अन्य सभी अंग उस पर निर्भर रहते हैं। परन्तु इससे यह मतलब नहीं कि नाटक मे अन्य महत्वपूर्ण पात्रों का कोई स्थान नहीं है। उसमे अनेक महत्वपूर्ण पात्र हो सकते हैं, कुछ नायक के सामान भी श्रेष्ठ रह सकते हैं जिससे संघर्ष मे समतुलन हो। दो महत्वपूर्ण पात्रों के विरोधी प्रकृति के संघर्ष तथा उनके कार्यों

---

[1] जान ड्राइडेन—'ऐन एसे ऑन ड्रैमैटिक पोयेज़ी'

[2] मिल्टन-'प्रेफेस टु सैमसन ऐगनिस्टीज़'

[3] जॉन ड्राइडेन "ऐन एसे ऑन ड्रैमैटिक पोयेज़ी"

द्वारा कथा वस्तु मे असमरूपता तथा रोचकता आती है। जितने ही अधिक पात्र होंगे उतनी ही कथावस्तु में विभिन्नता आएगी। यदि वस्तु के अनेक भागों में संगठन तथा सामजस्य और पूर्णता है तो वे और भी रोचक प्रतीत होंगे। हम वस्तु की भूल भुलैया मे पड़कर थोड़ी ही देर बाद बाहर आकर और भी आनन्दित होंगे। कुछ देर तक हम असमंजस मे रहें परन्तु अन्त न जान पाएँ इसी में नाटक की सफलता है।"[1]

जान ड्राइडेन—"नाटक लिखने के पहले कलाकार को अपना उद्देश्य भलीभाँति निश्चित कर लेना चाहिए। जिस नीति और जिस उपदेश को उसे नाटक मे स्पष्ट करना है उस पर मनन करने के बाद नाटक रचना करनी चाहिए, क्योंकि इसी उपदेश के आधार पर कथा-वस्तु का निर्माण होगा और यही अंश सम्पूर्ण नाटक का केन्द्र होगा। कथानक के निर्माण के बाद ही अन्य पात्रों का निर्माण होना चाहिए जो वाञ्छित उपदेश को स्पष्ट करेंगे। पात्रों के निर्माण में उनकी विभिन्न चित्तवृत्ति, चरित्र तथा भावनाओं का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है।

नाट्यकार को ऐसी चित्तवृत्तियों का उपयोग करना चाहिए जिससे कथावस्तु गति शील हो और पात्र अपने विशेष कार्यों में लगकर उद्देश्य की पूर्ति करे। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे न तो अतिश्रेष्ठ और न अति नीच पात्रों का निर्माण करना चाहिए, वरन उनमें उतने ही गुण दोष दिखलाने चाहिए जिससे कार्य-सिद्धि आसानी से हो जाय।

नाट्यकार को इतिहास, नीति तथा दर्शन का यथोचित ज्ञान होना चाहिए जिससे वह पात्रों के स्वाभाविक चित्तवृत्तियों को समझ

---

[1]. वही

सके। पात्रों के आचरण तथा आचार विचार कृत्रिम न होकर मनो-वैज्ञानिक दृष्टि से सच्चे होने चाहिए। इन स्वाभाविक चित्त-वृत्तियों के प्रयोग में कुछ नियम लागू होते हैं। ये नियम निम्न लिखित हैं—

(१) प्रत्येक पात्र की चित्तवृत्ति को स्पष्ट रूप से प्रगट करना चाहिए।

(२) जाति भेद, आयु और पद की दृष्टि से आचरण स्वाभाविक होना चाहिए। अर्थात् यदि नाट्यकार ने किसी पात्र विशेष को राजा बनाया है तो उसके आचार विचार, वातचीत और रहन सहन में शालीनता, गौरव तथा श्रेष्ठता अवश्य होनी चाहिए।

(३) आचरण तथा चित्तवृत्ति के चित्रण में ऐतिहासिक अथवा सामाजिक अनुरूपता होनी चाहिए। जैसे यदि कोई ऐतिहासिक अथवा प्रख्यात सामाजिक पात्र चुना जाए तो उसका चरित्र इतिहास के बताए हुए चरित्र के समान ही होना चाहिए। (उदाहरणार्थ यदि कोई नाट्यकार महाराणा प्रताप का चित्र खींचे और उन्हें युद्ध मे पीठ दिखलाता हुआ चित्रित करे तो यह उसकी अज्ञानता है)। इस नियम का उलंघन नाटकों में वहुत होता है जिसके कारण ये नाटक निम्नकोटि के तथा असफल रहते हैं।

(४) चित्तवृत्ति के चित्रण में एक दूसरी सावधानी की आवश्यकता है। ये चित्तवृत्तियां स्थायी होनी चाहिए और उन्हीं के अनुरुप पात्रों को कार्य करना चाहिए। जैसे अगर किसी पात्र को ज्ञानी अथवा विनयशील वना दिया गया तो उसे अन्त तक इन्ही गुणों को निबाहना चाहिए। उसमें परिवर्तन न होना चाहिए।

चित्तवृत्ति और आचरण के आधार पर पात्रों का निर्माण होता है और इन्ही के आधार पर पात्रों में विभिन्नता आती है। परन्तु पात्रों के आचरण में समान गुणों और अवगुणों का समावेश होना चाहिए न कि विरोधी गुणों अथवा अवगुणों का। उदाहरण के लिए यदि

कोई पात्र उदार है तो उसमें वीरता, शालीनता तथा सन्तोष गुण रह सकते हैं। परन्तु उसमें कृपणता, कायरता तथा लोभ का समावेश बिलकुल असंगत है। यदि कोई पात्र कायर है तो वह स्वभावतः झूठा, लोभी, असन्तोषी तथा स्वार्थी हो सकता है।

दुःखान्तकी के नायक में गुण और अवगुण की मात्रा उतनी ही होनी चाहिए जिससे वह दर्शकों का प्रिय रहे और उनकी सहानुभूति पा सके। नायक के त्रास और उसके दन्डित होने पर दर्शकों में भय तथा करुणा का यथेष्ठ संचार होना चाहिए। भय के संचार से दर्शकों के अन्य अवगुणों का परिमार्जन होता है और उनके चरित्र में यथोचित गुणों का जागरण होता है। करुणा के संचार से उनमें संवेदना प्रगट होती है जिससे उनके सुप्त गुणों का विकास होता है।"[1]

डि० क्विन्सी—"नाटकों मे नैतिक शिक्षा स्पष्ट न होकर अव्यक्त रहनी चाहिए। पात्रों तथा कथानक के अनेक स्थलों मे यह शिक्षा अव्यक्त तथा निहित होनी चाहिए। नाटक में स्पष्ट शिक्षा से उसकी रोचकता कम होती है।"[2]

जॉन मिल्टन—"प्राचीन लेखकों के विचार से दुःखान्तकी अन्य रचनाओं की अपेक्षा अधिक गुरुत्वपूर्ण तथा उपयोगी होती है। इसी आधार पर अरस्तू ने भी नाटकों को इस लिए महत्वपूर्ण वतलाया है कि वे भय तथा करुणा के संचार से पाठकों के स्वाभाविक अवगुणों का परिमार्जन करते हैं और उनकी अधिकता को हटाकर उनके आचरण का संशोधन करते हैं। रंग शाला में पात्रों द्वारा इन्हीं अवगुणों तथा गुणों के अनुकरण से दर्शक आनन्दित होकर शिक्षा ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार यह प्राकृतिक सत्य है कि विष से विष

---

[1] जान ड्राइडेन—"प्रिडेस टु ट्रायलस ऐन्ड क्रेसिडा"

[2] डि क्विन्सी—"मिल्टन वर्सस साउदे ऐन्ड लैन्डॉर"

उतर जाता है उसी प्रकार रंगशाला में अवगुणों के अभिनय तथा अनुकरण प्रदर्शन से मनुष्य की बुराइया हट जाती हैं।

नाटक रचना महान लेखकों की अभिलाषा रही है। इसकी कला उच्चकोटि की है।"[1]

जॉन ड्राइडेन—"नाटक का उद्देश्य आनन्दपूर्ण उत्कन्ठा का प्रसार करना है। मानसिक आनन्द द्वारा चरित्र संशोधन की उत्कन्ठा ही उसका मुख्य ध्येय है।

'दुःखान्तकी का प्रधान ध्येय शिक्षा प्रदान करना है। महान लोगों के कार्यों और उनके अपराधों के दण्ड और यातना को उदाहरण स्वरूप हमारे सन्मुख रखकर नाट्यकार हमें सन्मार्ग पर लगाते हैं। पाप के दुष्परिणाम और सत्कर्म के दैवी आदर्श वे हमारे सन्मुख रखते हैं।

अरस्तू के अनुसार दुःखान्तकी किसी सम्पूर्ण, सम्भाविक और विशाल कार्य का रंगभूमि पर अनुकरण है जिसका उद्देश्य भय और करुणा द्वारा हमारी दोनों भावनाओं की अति का परिमार्जन है। विस्तार पूर्वक व्याख्या में यह कहा जा सकता है कि दुःखान्तकी किसी एक कार्य विशेष का वर्णन अथवा चित्रण है। इसकी वस्तु मे किसी मनुष्य की सम्पूर्ण जीवन गाथा न होकर केवल एक ही कार्य विशेष का उल्लेख रहता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार शेक्सपियर के बहुत से ऐतिहासिक दुःखान्तकी निम्नकोटि के कहलाएँगे क्योंकि उनमें अनेक घटनाओ का संकलन है और सभी में दो या तीन कथावस्तुओं का सम्मिश्रण है।

इस नियम का उद्देश्य बहुत स्पष्ट है। दो विभिन्न कथानकों

---

[1] जान मिल्टन—"प्रिफेस टु सैमसन ऐगनिस्टीज़"

[2] जान ड्राइडेन—"ऐन एसे आन ड्रैमैटिक पोयेज़ी"

से दर्शकों का ध्यान बट जाता है और जब कि दुःखान्तकी का उद्देश्य केवल एक ही है उसमें अनेक कथावस्तुओं का सम्मिश्रण अनुचित है।

दुःखान्तकी का कार्य व्यापार केवल एक ही होना चाहिए और उसमें क्रम आवश्यक है। फलतः इस कार्य व्यापार में स्वाभाविकतः आदि, मध्य और अन्त होना चाहिए। इन तीनों में पारस्परिक सम्बन्ध अनिवार्य है। यह आवश्यक नहीं कि उसकी कथावस्तु मे ऐतिहासिक सत्य ही हो, परन्तु कथाव्यापार का सम्मान्य होना बहुत आवश्यक है।

नाटकों का कार्य व्यापार महत्वपूर्ण तथा उसके पात्र श्रेष्ठ वर्ग के होने चाहिए। पात्र, वस्तु तथा कार्य व्यापार के उचित प्रयोग से दुःखान्तकी लेखक अपने उद्देश्य में सरलता से सफल हो सकते हैं। उनका उद्देश्य हमारे हृदय की भावनाओं की अधिकता का संशोधन तथा परिमार्जन है। भय और करुणा के प्रसार से ही यह संशोधन संम्भव है।

समस्त काव्यों का मुख्य ध्येय आनन्दपूर्ण शिक्षा प्रदान करना है। यह देखा गया है कि मनुष्य के चरित्र में गर्व और निर्दयता दो बड़े अवगुण रहते हैं। कलाकारों ने दुःखान्तकी के द्वारा, भय और करुणा के संचार से इन दोनों अवगुणों का शमन करने का उद्योग किया है। जब रंगस्थल पर किसी महान पुरुप के दुर्दिन और दुर्भाग्य का प्रदर्शन होता है तो हमे ज्ञात होता है कि महान से महान मनुष्य भी भाग्य का शिकार हो सकता है। इस भावना से हमारे गर्व का शमन होता है। और जब हम किसी श्रेष्ठ पुण्यात्मा को दुर्भाग्य के चक्कर में देखते हैं तो हमारे हृदय मे करुणा का संचार होता है। फलतः हमारी निर्दयता दया में परिणत हो जाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि जिन पात्रों के दुर्भाग्यो से हमारी करुणा जाग उठे, उन्हें पूर्णतयः सच्चरित्र होना चाहिए क्योंकि दुष्ट मनुष्यों को दण्ड

मिलने पर हमें दया नहीं आती वरन सन्तोष होता है कि उन्हें उनके किए की सज़ा मिल रही है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या नाटकों से सभी दुष्ट पात्र निकाल दिए जांय और नाट्यकार उन्हें अपने नाटकों में स्थान ही न दे? मेरे विचार में यह सिद्धान्त ठीक नहीं। हां, मैं इतना अवश्य मानता हूँ कि नाटक के नायक दुष्ट न होकर केवल अच्छी प्रवृत्तियों वाले होने चाहिए जिससे वे दया के पात्र हो सकें। संसार मे पूर्ण सज्जन नहीं होते और देवतुल्य पात्रों का निर्माण अस्वाभाविक होता है। पात्रों में गुण अवगुण दोनों का मिश्रण ही स्वाभाविक है। उनमें इतने गुण होने चाहिए जिससे हमारी करुणा जाग्रत हो और उनमें इतने अवगुण हों जिससे वे मनुष्य कहला सकें।"[1]

जॉन ड्राइडेन—"पात्रों के चित्रण में उनकी प्रवृत्तियों को स्पष्ट करना ही नाट्यकार का मुख्य कार्य है। यदि नाट्यकार इस कला से अनभिज्ञ है तो वह नाट्यकार नहीं। अनेक सुःखान्तकीयों तथा दुःखान्तकीयों में विविध कथानकों के प्रयोग से पात्रों की चित्तवृत्ति स्पष्ट न होकर जटिल और क्रियाहीन हो जाती है।

पात्रों का आचरण तथा उनका आचार विचार, उनकी अवस्था, उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा देशकाल के अनुरूप ही होना चाहिए।

पात्रों के सवाद और कथोपकथन में स्वाभाविकता बहुत आवश्यक है। यदि संवाद में किसी प्रकार की भी कृत्रिमता आ जायगी तो नाटक निम्नकोटि का कहलाएगा। संवाद मे इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि उसमे आवेश और आवेग उसी समय आवे जब

---

[1] जॉन ड्राइड्रेन—प्रेफेस टु ट्रॉयलस ऐन्ड क्रेसिडा'

[2] वही

चित्त में वास्तविक उद्विग्नता हो। कृत्रिम रूप से आवेश और आवेग के प्रयोग से पात्रों का चरित्र न तो ऊँचा हो सकता है और न इससे उनमें गौरव की मात्रा ही बढ़ेगी।"[1]

टी० राइमर—"कथानक ही दुःखान्तकी की आत्मा है और इसी के चुनाव और व्यवस्था मे कलाकार की कला है। नाट्यकार, पात्र तो नैतिक दार्शनिकों से ले सकते हैं, विचार उन्हें साहित्य शास्त्र से मिल सकते हैं और व्यंजना वे व्याकरण के जानने वालों से पा सकते हैं परन्तु कथानक ही के चुनाव में उनकी मौलिकता और कला है।"

जोज़ेफ़ ऐडिसन—"अंग्रेज़ी नाट्यकारों ने भूल से यह सिद्धान्त मान लिया है नाटक सुःखान्त ही होनें चाहिए। इसीलिए उनके नायक अनेक कष्ट और विपत्ति झेलने के वाद अन्त में सुखी होकर जीवन व्यतीत करते हैं और उनकी सव इच्छाऍ पूरी होती हैं। इस धारणा से आलोचना साहित्य में वहुत से भ्रम-मूलक सिद्धान्त स्थापित हो रहें हैं और नाट्यकारों के इस भ्रम-मूलक सिद्धान्त से दुष्टों को दण्ड और सज्जनों को इनाम के रूप में सुख मिलता है। परन्तु वास्तविक जीवन मे ऐसा देखने में नहीं आता। संसार में सुख दुख सज्जनों तथा दुष्टों को वरावर मिलता रहता है।

"दुःखान्तकी का मुख्य उद्देश्य दर्शकों के मन में भय और करुणा का संचार करना है। यदि हम सज्जन पात्रों को सदैव सुखी और आनन्दपूर्ण वनाते रहेंगे तो हम कभी भी भय और करुणा जाग्रत करने में सफल नहीं होंगे। क्योंकि जव हम यह जानते ही हैं कि पात्रों को चाहे कितने ही कष्ट सहने पड़ें अन्त में तो वे अवश्य सुखी और धन धान्य से पूर्ण होंगे, हमारे मन मे न तो भय उत्पन्न होगा और न करुणा वरन हमें एक प्रकार का सन्तोष होगा कि अन्त तो आनन्द पूर्ण हुआ चाहे आदि कैसा भी रहा हो। इसीलिए प्राचीन लेखकों ने सासारिक जीवन के अनुरूप ही अपने पात्रों का चित्रण किया है।

[1] वही

उन्होंने सज्जन पात्रों को कभी सुखी तो बनाया परन्तु साधारणतः दुखी ही रहने दिया।

अरस्तू का भी विचार था कि दुःखान्तकी से ही दर्शकों को अधिक आनन्द मिलता है क्योंकि भय और करुणा के संचार से उनको आत्मिक आनन्द प्राप्त होता है। सुःखान्तकी का प्रभाव क्षणिक और अस्थाई रहता है परन्तु दुःखान्तकी का प्रभाव गहरा पड़ता है और दर्शक जीवन के जटिल प्रश्नों पर विचार करने मे निमग्न हो जाते हैं। फलतः अंग्रेज़ी साहित्य में वे ही नाटक सर्वप्रिय रहे जिसके नायक दुख और क्लेश सहते सहते प्राण तज देते थे। शेक्सपियर विरचित 'किंग लियर' की प्रियता का यही मूल कारण है।

'सुःखान्तकी भी प्रभावपूर्ण हो सकते हैं परन्तु यह कहना कि केवल ऐसे हीं नाटक श्रेष्ठ हैं भ्रम मूलक है। दुःखान्तकी भी अत्यन्त प्रभाव पूर्ण होते हैं कदाचित उनमें अधिक श्रेष्ठ कला है।"[1]

सैमुएल जॉनसन—"यूनान के प्राचीन नाट्यकारों के अनुसार केवल तीन ही पात्र एक समय रंग मंच पर होने चाहिए। इसका कारण यह था कि मूल रूप में दुःखान्तकी 'बैकस' देवता के स्तुति गीत मात्र थे जिसमें केवल एक ही पात्र रहता था। इसके बाद इसने संवाद का रूप लेकर एक पात्र और बढ़ाया और धीरे धीरे तीसरा पात्र भी शामिल कर लिया गया। परन्तु आधुनिक नाट्यकारों ने इस अस्वाभाविक नियम को तोड़कर अनेक पात्र एक ही समय में प्रस्तुत करने का नियम बनाया।

हारेस ने अंकों की संख्या केवल पांच ही रखी थी। किन्तु यह संख्या भी अनावश्यक और अस्वाभाविक है। जब तक कि कार्य-व्यापार की श्रृंखला न टूटे और कथावस्तु सुगठित रहे कितने भी अंक

---

[1]जोज़ेफ़ ऐडिसन—'दि स्पेक्टेटर'

हो सकते हैं।"[1]

जान ड्राइडेन—अरस्तू के सिद्धान्तों के अनुसार प्रत्येक नाटक में देशकाल तथा कार्य का पूरा ध्यान रखना चाहिए। काल से मतलब उतने समय से है जितने में कार्य मूलरूप में समाप्त हुआ होगा। यदि कोई कार्य २४ घण्टे अथवा एक ही दिन में समाप्त हुआ तो रङ्गमंच पर भी उसे उतने ही समय में समाप्त होना चाहिए। कभी कभी ऐसा भी होता है कि नाट्यकार ऐसे कार्य को जो २४ घण्टे में पूर्णतया समाप्त होता है, केवल १० ही घण्टे में समाप्त कर देते हैं या २४ घण्टे का कार्य अधिक अंश में तो २ ही घण्टे मे समाप्त कर देते हैं और २२ घण्टे तक कार्य का कुछ अंश धीरे-धीरे चलता रहता है। यह नाट्यकार की त्रुटि है।

प्राचीन आलोचक केवल एक ही स्थान पर अथवा एक ही देश मे कार्य के पूर्त्ति की आज्ञा देते हैं। उनका आदेश था कि यदि कोई कार्य किसी विशेष स्थान पर आरम्भ हुआ तो उसकी प्रगति और उसका अन्त भी उसी स्थान पर होना चाहिए। कार्य को विभिन्न स्थानों पर प्रदर्शित करना जीवन का भ्रमपूर्ण परिचय देना है। क्योंकि सम्पूर्ण कार्य जब केवल दिन भर में ही समाप्त हो जाता है तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि पात्र इतने थोड़े ही समय में कई जगह हो आ सकते। यदि कोई दृश्य किसी वाटिका, अथवा किसी सड़क, अथवा किसी कमरे में आरम्भ होता है तो उसी जगह उसका अन्त भी होना चाहिए। रङ्गमञ्च पर हर दृश्य को सम्बन्धित रखने के लिए, उस पर ऐसे पात्रों को लाना चाहिए जिनसे उनके पहले के आए हुए पात्रों से कार्य का सम्बन्ध रहा हो। इसी तरह सारे पात्र एक दूसरे से अन्त के दृश्य तक सम्बन्धित रखे जा सकते हैं।

---

[1] जॉनसन—'दि रैम्बलर'

नाटकों में कार्य भी एक ही होना चाहिए। आदि से लेकर अन्त तक केवल एक ही कार्य का सम्पादन होना चाहिए क्योंकि यदि दो कार्यों का सम्पादन होगा तो मुख्य कार्य का आकर्षण कम हो जायगा और इसके साथ-साथ दर्शकों का ध्यान भी बट जायगा। हाँ, इतना अवश्य हो सकता है कि नाट्यकार कई उप-वस्तु रखे, मगर सब उप-वस्तु मुख्य वस्तु के अन्तर्गत ही होनी चाहिए।[१]

"बहुत से नाट्यकारों ने देश, काल, कार्य के प्राचीन सिद्धान्तों के अनुकरण में नाटक रचना को बहुत क्षति पहुँचाई है। इन नियमों के पालन के कारण उन्होंने नाटकों को थोथा, कल्पनाहीन तथा अरोचक बना दिया है। 'देश' के नियम पालन से वस्तु को बड़ा धक्का पहुँचा है, 'काल' के नियम को मानने से वे कल्पना रहित हो गए हैं और कार्य को सीमित रखने से उनमे अरोचकता आ गई है। न जाने कितने सुन्दर दृश्य, काल को केवल २४ घण्टे तक ही सीमित रखने के कारण, नाटकों से निकाल फेंके गए, और बहुत से अन्य उपयोगी दृश्य देश की सीमा का उल्लंघन कर सकने के कारण, स्थान न पा सके। मान लीजिए कि मुख्य कार्य राजा के सोने के कमरे में आरम्भ होता है, इसके तात्पर्य यह हुए कि सभी पात्र निम्न से निम्न कोटि के वही आवे और वहीं पर कार्य का अन्त भी प्रदर्शित करें। ये नियम नाटक रचना के शत्रु हैं।[२]

"कार्य की पूर्णता तभी प्रतीत होती है जब मुख्य वस्तु के आधीन सभी छोटी-छोटी वस्तुएँ हों। इसमे सन्देह नहीं कि वस्तु की विभिन्नता से रोचकता बढ़ती है मगर इसके लिए यह आवश्यक है कि मुख्य वस्तु के अंतर्गत ही अधीन वस्तुओं का समन्वय हो।"[३]

---

[१]जान ड्राइडेन—'ऐन एसे आन ड्रेमैटिक पोयेज़ी'। [२]जान ड्राइडेन—'ऐन एसे आन ड्रेमैटिक पोयेज़ी'। [३]वही

कोलरिज—"दुःखान्तकी के अन्तिम प्रभाव में ईश्वर तथा नैतिकता के प्रति हमारी श्रद्धा और भी दृढ़ होनी चाहिए। हममें ईश्वरीय नियमों के लिए अनुराग तथा उनमें विश्वास उत्पन्न होना चाहिए। कवि का कला प्रयोग केवल कलात्मक ही नही वरन शिक्षात्मक भी है।

दुःखान्तकी के प्रगाढ़ प्रभाव में काव्य की आत्मा निहित है।

दुःखान्तकी लेखक अपने पात्रों को एक आदर्शलोक मे उपस्थित कर उनकी आध्यात्मिक तथा मानसिक शक्तियों की महत्ता वतलाता है। परन्तु वह अपने पात्रों में केवल श्रेष्ठ गुणों और अति श्रेष्ठ मानवी लक्षणों को इकट्ठा न कर उनके अवगुणों और दोषों को भी प्रदर्शित करता है। उसका उद्देश्य चरित्र जनित दोषों और अवगुणो का प्रदर्शन है।"

सोमरविल—"शेक्सपियर के सभी नायकों में एक स्वाभाविक एकांगी धारणा तथा एक विचित्र प्रकार का अस्थाई पागलपन प्रतीत होता है जिसके कारण दुःखान्तकी का वीज पड़ता है। इस नायक पर एक ऐसे कार्य का भार रहता है जो वह अनेक गुण रखते हुए भी सम्पूर्ण नहीं कर सकता। केवल इसी घातक अवगुण के कारण वह अपने को सारे संसार का शत्रु वना लेता है।

यद्यपि नायक. नाटक के सम्पूर्ण होने के पहले तक, इसी घातक अवगुण की पट्टी आँखों पर वाँधे रहता है, परन्तु नाटक के अन्तिम अंक में उसे अपनी भूल तथा अपने पागलपन का पूर्ण अनुभव हो जाता है।"

स्टॉल—"दुःखान्तकी का नायक अन्य पात्रों की अपेक्षा अधिक शक्तिपूर्ण, अधिक प्रौढ़, अधिक भावुक तथा अधिक महत्वपूर्ण होता है। जो अन्य पात्र उसके विरोधी होते हैं, उसके मुकावले में उतने महत्वपूर्ण नहीं होते क्योंकि उनमें न तो उतनी प्रौढ़ता होती है और

न मानसिक शक्ति ।

हेगेल—"दुःखान्तकी अपने प्रभाव में नैराश्य का प्रसार न कर, जीवन के प्रति श्रद्धा और विश्वास की नींव दृढ़ करती है। मनुष्य तथा जीवन को प्रेम और श्रद्धा की डोर में बाँधना उसका प्रधान कार्य है। कलाकार, जीवन के दोषों, अवगुणों तथा पापों का दमन कर के यह सामजस्य नहीं स्थापित कर सकता। यह सामंजस्य तो गुणों के अन्तर्विरोध द्वारा ही होता है। जब गुणों के दो विरोधी दल द्वन्द्वपूर्ण हो एक दूसरे का विनाश कर देते हैं तो उसी में दुःखान्तकी की आत्मा विकसित होती है। गुण तथा अवगुण के द्वन्द्व से दुःखान्तकी पूर्ण नहीं होती, वह पूर्ण होती है गुण के अन्तर्द्वन्द्व के ही कारण। इस विचार से 'लियर' आदर्श दुःखान्तकी है और 'मेकबेथ' निम्नकोटि की। जब किसी नायक के गुण अपनी सीमा पार कर अति श्रेष्ठ होने की कोशिश करते हैं तो उन गुणों में भी एक तरह का सीमोलंघन होता है। इसके कारण वे गुण, गुण नहीं रह जाते और उनके विनाश से ही जीवन में सामंजस्य स्थापित हो सकता है।

श्रेष्ठ दुःखान्तकी का नायक दृढ़ प्रतिज्ञ तथा अपने पर विश्वास रखने वाला होता है। उसके चरित्र मे स्वभावतः कोई न कोई मानवी गुण अपनी परिधि तोड़ कर उसकी आदर्श सीमा का उलंघन करता है। लियर का स्नेह, हैमलेट की मानवता, ब्रूटस का आदर्शवाद, ओथेलो का प्रेम सभी अपनी सीमा का उलंघन करते हैं।"

"दुःखान्तकी के मुख्य पात्र मे कुछ दैवी गुण होने चाहिए; ऐसे गुण जो उसे आदर्श स्थल पर रख सके।"

शार्पेनहायर—"दुःखान्तकी में कला की पराकाष्ठा प्रदर्शित होती है। इसका कारण है उसके लिखने की दुरूहता तथा उसका प्रगाढ़ प्रभाव। इसके अतिरिक्त उसमें जीवन के भयावह स्थलो का चित्रण है जिससे मानव हृदय पर गहरा प्रभाव बहुत काल के लिए

पड़ता है। दुःखान्तकी में इच्छाशक्ति के द्वन्द्व और उसके फलस्वरूप पराजय की मानवी अनुभूति होती है। इच्छाशक्ति अपने से ही द्वन्द्व छेड़ बैठती है और इस द्वन्द्व का परिचय हमे मनुष्य के त्रास तथा क्लेश मे मिलता है। त्रास और क्लेश दोनों कुछ तो दुर्योग तथा घातक अवगुणों (जिसे हम भाग्य का प्रतीक समझते हैं) के द्वारा मिलते हैं और कुछ मानवी दोषों के कारण उपजते हैं। इच्छा-शक्ति के इस अपने से विरोध के फलस्वरूप उसका स्वयं विनाश हो जाता है। दुःखान्तकी द्वारा हमे जीवन तथा संसार का सम्पूर्ण ज्ञान मिलता है। हमारे दुख तथा क्लेश हमारे ज्ञान का संशोधन करते हैं; इस संशोधन से हम पर शान्ति सरसती है और हम जीवन के सामने घुटने टेक देते हैं।

इच्छा-शक्ति ही समस्त संसार की नींव है, समस्त संसार उसी से परिचालित है। मनुष्य को आनन्द तभी मिलता है जब अपूर्व रूप से संशोधित ज्ञान, इच्छा-शक्ति की निरर्थकता प्रमाणित कर दे अथवा कला अपनी शक्ति से उसे ऐसा गौरवपूर्ण बना दे कि हमें उसकी वास्तविकता न दिखलाई दे। दुःखान्तकी की कला ही ऐसी कला है जिसके द्वारा हम ऐसे जगत का अनुभव करते हैं जहाँ जीवन वांछनीय नहीं है। जब बुद्धिमान लोग दुःखान्तकी देखते हैं तो उनके विचार में यह आता है कि जब इतने श्रेष्ठ मनुष्यों का पतन हो गया तो उनकी क्या हस्ती है और वे अपनी इच्छा शक्ति को निष्प्राण कर देते हैं और जीवन को वांछनीय नहीं समझते इसके विपरीत मूर्ख दुःखान्तकी देखने के बाद जीवन से आकर्षित होकर उससे और भी उलझ जाते हैं।"

"परन्तु यह धारणा केवल क्षणिक रहती है। दुःखान्तक कलाकार इस संसार से परे एक इच्छा रहित संसार का निर्माण करता है। दुःखान्तकी से जीवन के प्रति पुनर्मिलाप तथा श्रद्धा की भावना सदैव

नहीं जाग्रत होती; यह भावना तो व्यक्ति विशेष के अनुभव पर निर्भर रहती है।

नीट्शे—"जब हम दुःखान्तकी देखते हैं तो स्वभावतः हममें निराशा उत्पन्न होती है, परन्तु हम जीवन के उन स्थलों को भी देखते हैं जिन पर हम विजय पा सकते हैं और इस भावना से हममें आशा तथा शक्ति का संचार होता है। वास्तव में दुःखान्तकी हमें दुःखित न कर, नायक के दुर्योगों के संघर्ष द्वारा हमें आनन्द प्रदान करती है। हम अन्त में जीवन की शक्ति का अनुभव अवश्य करते हैं, परन्तु हममें यही भावना स्थाई रहती है कि चाहे जीवन में शक्ति हो, मानव-आत्मा उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण तथा शक्तिशाली है। अन्त में मानव-आत्मा की ही विजय रहती है, उसकी मर्यादा तथा उसकी आभा सदैव स्थायी रहती है। दुःखान्तकी का ध्येय जीवन की शक्ति तथा सौन्दर्य को प्रस्फुटित कर मानव आत्मा की मर्यादा की स्थापना है।"

मारिस मेटरलिंक—"दुःखान्तकी के निर्माण मे किसी असाधारण घटना अथवा आदर्श पुरुष का नायक रूप में प्रयोग आवश्यक नहीं। हमारे आत्म जगत में ही दुःखान्तकी का प्रभाव अवगत होता है। इसलिए किसी भी मानवी घटना द्वारा दुःखान्तकी का निर्माण हो सकता है। उसके लिए न तो किसी दुर्धर्ष घटना और न किसी उद्दाम वासना की आवश्यकता है, वरन हमारे दिन प्रतिदिन के जीवन की घटनाएँ, हमारी परिवर्तनशील भावनाएँ, हमारी मानसिक अवस्थाएँ, हमारी आत्मिक अनुभूतियाँ, बड़ी सरलता से दुःखान्तकी का आधार बन सकती हैं। शेक्सपियर के नायकों—लियर, हैमलेट मेकबेथ तथा ओथेलो के पतन पर हम वाह्यरूप से प्रभावित होते हैं परन्तु उन साधारणमनुष्यों के पतन से, जो हमारे ही वर्ग के हैं, हम आन्तरिक रूप से प्रभावित होते हैं। इस प्रकार से निर्मित दुःखान्तकी मे सर्वव्यापकता होगी; वह हमारे हृदय के बहुत ही निकट होगी।

दुःखान्तकी का उद्देश्य हमारे प्रतिदिन के जीवन कार्यों में व्यापक आत्मा का विश्लेषण कर मनुष्य आध्यात्मिकता तथा उसके भाग्य का गौरवपूर्ण निरूपण है।"

बर्सों—"हमारा जीवन हमारी स्मरण शक्ति द्वारा परिचालित है। स्मरण शक्ति हमारी भावनाओं का संचय करती रहती है जिसके द्वारा हमारा समस्त जीवन प्रतिबन्धित रहता है। पात्रों में अनेक स्त्री, पुरुषों की स्मृति संचित रहती है और वे किसी भी पात्र के साथ अपनी काल्पनिक सहानुभूति प्रकट कर सकते हैं। इस सहानुभूति के फलस्वरूप हमारी भावनाओं तथा हमारे विचारों का परिमार्जन होता है। यह परिमार्जन हमें गौरवपूर्ण तथा उन्नत बनाता है।

श्रेष्ठ दुःखान्तकी की रचना तभी हो सकती है जब समाज सभ्यता ग्रहण कर लेता है। जब तक समाज ऐसी सभ्यता की चोटी तक नहीं पहुँचता, जिससे उसमे मानव स्मृतियाँ प्रचुर रूप में संचित हो जायं, तब तक श्रेष्ठ दुःखान्तकी का जन्म नहीं हो सकता।

दुःखान्तकी देखने के पश्चात् हममें बड़प्पन की भावना जाग्रत होती है और श्रेष्ठ ज्ञान का अहंकार उपजता है। इसके साथ-साथ संभवतः हममें, अपने समान साथियों को दुःखपूर्ण देखकर, अपनी श्रेष्ठता तथा अभिमान का अनुभव होने लगता है किन्तु यह भावना क्षणिक होती है। सम्पूर्ण दुःखान्तकी की विचारधारा में मृत्यु का ताण्डव दिखलाई पड़ता है। मृत्यु ही एक ऐसी घटना है जो जीवन को गौरवान्वित करती है यह एक ऐसी वास्तविकता है जिसके कारण हम जीवन तथा उसके अजर प्रेम में और भी लीन हो जाते हैं। जीवन तथा मृत्यु के प्रेम के फलस्वरूप ही दुःखान्तकी का जन्म होता है।"

३

तृतीय खण्ड

सुःखान्तकी

१

रोमीय सुःखान्तकी

रोमीय सुःखान्तकी रोम के सामाजिक, पारिवारिक तथा राजनीतिक जीवन और उसके वातावरण की पूर्ण परिचायक है। जिन जिन भित्तियों पर रोमीय समाज आधारित था, जिन जिन नियमों की रोमीय परिवार रक्षा करता था, जिस राजनीतिक जीवन के वे समर्थक थे उसका सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब रोमीय सुःखान्तकी में हमें मिलता है।

रोम के निवासियों ने यद्यपि यूनान पर विजय अपने सैनिक शक्ति द्वारा पाई थी परन्तु वे लोग वास्तव में यूनान की मानसिक प्रभुता से दबे हुए थे। यूनानियों की विचार शैली भी बहुत कुछ अंश में उन्होंने अपना ली थी परन्तु साम्राज्य का प्रेम और उसकी रक्षा उनके जीवन का मुख्य ध्येय था। साम्राज्य-रक्षा के लिए कुछ ऐसे नियमों तथा कुछ ऐसे आदर्शों का प्रतिपालन आवश्यक था जो रोम के युवा-समाज में ऐसी शक्ति का संचार करते जिससे साम्राज्य नित्य प्रति सुदृढ़ होता जाता और उसकी नींव हिलाए न हिलती। रोम देश के युवाओं पर ही इसकी ज़िम्मेदारी थी, उन्हीं को ही भविष्य में साम्राज्य रक्षक का कार्य करना था। इसलिए युवाओं को एक विशेष प्रकार की शिक्षा तथा दीक्षा की आवश्यकता थी। उन्हें रोम देश का एक सफल नागरिक बन कर, अपने आदर्शों को भली भाँति समझ कर उसी पर भरसक चलने का प्रयत्न करना था। उनके इस प्रयत्न मे सहयोग देने का कार्य उनके साहित्य ने भी किया।

साम्राज्य-रक्षा के हेतु आचरण-संबंधी शिक्षा उन्हें सब से पहले मिलनी चाहिए थी और उसमें उन गुणों का समावेश होना चाहिए था जो उनको उच्च श्रेणी का नागरिक बना कर साम्राज्य-पताका

नही कि वे नायक नायिका के रूप में हमारे सामने आते है। वे केवल सहायक के रूप में प्रयुक्त होते हैं। समाज-साधना में वे केवल सहकारी है; साधक तो वृद्ध तथा अनुभवी पुरुष हैं जो रंगमंच पर उपदेश देते रहते हैं।

इसके अतिरिक्त रोमीय नाटकों में युवा पात्रों तथा पात्रियों में लालसा की भावना अधिक देखने मे आती है। नायक की मुख्य प्रवृत्ति लोलुपता की ही ओर रहती है, क्योंकि युवा को सब तरह का सामाजिक ज्ञान तथा जीवन का वास्तविक अनुभव होना चाहिए। यदि कोई युवा पात्र लोलुपता के चक्कर में दुष्कर्म अथवा पाप कर बैठता है तो उसकी भर्त्सना नही होती और न उस पर कोई लाञ्छन ही लगता है। वह निष्कलंक अपने समाज में लौट आता हे। रोमीय समाज का तो विश्वास था ही कि दुनिया के सभी अनुभवों-अच्छे अथवा बुरे-का पूर्ण ज्ञान युवाओं को होना चाहिए और इसी नियम के निर्वाह के लिए उनके पात्र हर तरह के कामुक कार्य करने पर तत्पर रहते हैं। शरीर, समाज, साम्राज्य तीनों की रक्षा आवश्यक ही नहीं वरन अनिवार्य थी। शरीर की तृप्ति में ही सम्पूर्ण आनन्द था, समाज की रूढ़ि ही महत्वपूर्ण थी और साम्राज्यादर्श ही सब से उत्तम धर्म था। कुछ नाटकों में तो युवा को यहाँ तक ढील दी गई है कि पिता स्वयं जाकर पुत्र के लिए उपपत्नी ख़रीद लाकर उसका पैतृक प्रेम पाने की चेष्टा करता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि रोमीय समाज अनैतिक था, इसका अभिप्राय यही था कि उनकी नैतिकता आधुनिक काल की नैतिकता से अलग थी और इस प्रकार के दृश्य केवल शिक्षाप्रदान के अभिप्राय से ही नाटकों मे संकलित किए जाते थे।

रोम देश के सामाजिक वातावरण की उपरोक्त समीक्षा के पश्चात् अब हम भलीभाँति समझ लेंगे कि रोम के नाट्यकारो के नाटकों के कौन-कौन से विशेष तत्व थे। पहला था कथावस्तु का चुनाव। उनकी

कथावस्तु मे केवल षड़यन्त्र-पूर्ण हास्यास्पद घटनाओं का ही उपक्रम रहा करता था। षड़यन्त्रपूर्ण घटनाओं के बीच युवा और युवतियों को डाल कर वे उनकी बुद्धि, उनके कार्य कौशल तथा उनकी तत्परता का संशोधन तथा सुधार किया करते थे। इस प्रकार के उपक्रम से दर्शकों मे वे दुविधा द्वारा आनन्द प्रसारित करते थे। वास्तव में उनकी कथावस्तु प्रहसनात्मक होती थी जिसमें कुछ हास्यप्रद घटनाओं का ही जमघट रहा करता था।

इस कथा-वस्तु के प्राण-स्वरूप इन नाटकों में कामुक भावना ही प्रधान रहा करती थी। प्रेम, वास्तविक प्रेम अथवा आध्यात्मिक प्रेम का शायद ही कहीं दर्शन हो। मन्मथ के शरों से घायल नायक अपनी प्रेमिका के लिए दौड़ते चिल्लाते हमेशा दिखलाई देते हैं। स्त्री-पुरुष के संवन्ध मे किसी भी पवित्रता का लवलेश भी नही मिलता। उनका संवन्ध सदैव अनुचित तथा निषिद्ध ही रहता था। संक्षेप में प्रेमिका का शिकार ही इन नाटकों का विषयाधार है।

इस भावना के फल-स्वरूप, इन नाटकों का वातावरण भी असभ्य, दुःशील तथा पाशविक रहता था। सभ्य, शीलयुक्त, तथा मानवी भावनाएँ तो केवल पवित्र विचारों द्वारा ही प्रवाहित होती हैं, कामुक भावना से तो केवल निकृष्ट तथा अश्लील वातावरण ही प्रस्तुत हो सकता था।

नाट्यकार, अपने राष्ट्रीय सिद्धातों के पालन में वस्तु तथा वातावरण को समुचित रूप देने के लिए वृद्ध तथा अनुभवी पुरुषों पर ही दायित्व रखते हैं। पिता, श्वसुर, वृद्धजन अपने अनुभवों के चाबुक द्वारा युवा पात्रों का रंगमच पर सुधार करते हैं। इन्हीं आदर्शों को लेकर रोमीय नाटक लिखे गए। टेरेन्स तथा प्लाटस रोम के प्रमुख सुःखान्तकी लेखक हैं।

२

शेक्सपियर की सुःखान्तक शैली

वातावरण—रोमीय नाट्यकारों की शैली, इंगलिस्तान के लेखकों ने पूर्णतय: कभी नही अपनाई और न अंग्रेज़ी रंगमंच पर वे बहुत दिन तक रुचिकर हुए। इसका कारण यह था कि रोमीय नाटकों की आत्मा इंगलिस्तान की आत्मा के प्रतिकूल ही नही वरन् प्रतिद्वन्दी थी। अंग्रेज़ी लेखकों और अंग्रेज़ी जनता को कुछ दिनों तक तो वे ग्राह्य रहे मगर बहुत दिनों के लिए उनके मन में वे कोई स्थायी जगह न बना सके। यद्यपि अंग्रेज़ी कलाकारो ने उनका अनुकरण कर कई एक नाटक लिखे मगर स्थायी रूप से वे लोकप्रिय न हो पाए।

इसके साथ मध्य-युग के आगमन ने साहित्य को अनेक प्रकार के विषय प्रदान कर अंग्रेज़ी लेखकों का मानसिक विस्तार इतना बढ़ाया कि रोम के नाटक बहुत पीछे रह गए। मध्ययुग ने अपनी नवीन सामग्री के आकर्षण द्वारा रोमीय नाटकों की रोचकता बहुत कुछ कम कर दी। यह सामग्री इतनी मौलिक तथा अनुपम थी कि उसके अपनाने के बाद रोम का नाटकीय साहित्य बहुत लोग कुछ भूल से गए। साहित्य को अब एक ऐसे कलाकार की आवश्यकता थी जो इस युग की सामग्री का उपयुक्त प्रयोग करता।

मध्ययुग का दूसरा नाम है वीर-गाथा-युग। इस युग ने वीरपरम्परा चला कर जीवन के नए नए आदर्श प्रस्तुत किए। सामाजिक दृष्टि से मध्ययुग सामन्तवादी था और सामन्तवाद ने ऊपर से नीचे तक पदवियों की अटूट शृंखला बनाकर हर एक को दूसरे से जकड़ दिया था। इससे दरबारी जीवन को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला और आचार विचार तथा दैनिक आचरण सम्बन्धी एक नवीन कोष का निर्माण

होने लगा। परन्तु वास्तव मे सामन्तवाद ने जो श्रृंखला सामाजिक रूप मे वना दी थी वह वहुत ही कमज़ोर थी। इस कमज़ोरी को हटा कर उसको शक्ति प्रदान करने का काम उन विचारों तथा भावनाओं ने किया जो आगे चलकर अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुईं। इन भावनाओं में सव से महत्वपूर्ण और सव से उपयोगी भावना थी—राज्य भक्ति तथा स्वामि-भक्ति। वास्तव मे इसी भावना ने सामन्तयुग की क्रमवद्ध पदवियों की श्रृंखला को मज़वूत वनाया था। यही भावना सामन्त-युग-शरीर की प्राण-स्वरूप थी।

इस भावना के फल-स्वरूप अन्य चार भावनाओं का जन्म हुआ। स्वामि-भत्ति की भावना की भित्ति है प्रेम। विना प्रेम के स्वामिभक्ति अथवा राज्यभक्ति-भावना खोखली और निष्प्राण रहती है। प्रेम ही की सहायता से, उसी के आग्रह और अनुष्ठान से स्वामिभक्ति सक्रिय होती है। प्रेमहीन स्वामिभक्ति अथवा राज्य भक्ति केवल निरर्थक शब्द मात्र हैं। प्रेम ने सामन्तयुग में अपना रंग इतना गहरा किया कि जीवन के सभी स्थल रंजित हो उठे। राजनीति के क्षेत्र में प्रेम ने राजा तथा प्रजा, सामन्त तथा उप-सामन्त, उपसामन्त तथा अन्य पदवीधारी सवको एक डोर मे वाध कर स्वामि-भक्ति अथवा राज्य भक्ति की मर्यादा स्थापित की।

सामाजिक क्षेत्र में प्रेम ही के फल-स्वरूप निस्वार्थ जीवन की श्रेष्ठता घोषित हुई। प्रेम की प्रतिष्ठा तथा उसका मूल्य तभी तक होता है जव तक प्रेम निस्वार्थ रहता है अगर नहीं तो प्रेम केवल शब्द मात्र रह जाता है। इस साधारण तत्व को समझ कर मध्ययुग ने निस्वार्थ जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया। इस निस्वार्थ जीवन का आधार था वलिदान। इन्ही राजनीतिक तथा सामाजिक आदर्शों की छाया पारिवारिक तथा घरेलू जीवन पर सम्पूर्ण रूप से पड़ी। पारिवारिक जीवन ने भी प्रेम को मूलाधार, वलिदान को श्रेष्ठ आदर्श

तथा स्वामिभक्ति, पति भक्ति और पितृभक्ति को महत्वपूर्ण मान कर अपना नवीन साम्राज्य स्थापित किया। आदर्श वीर वही था जो अपने को राष्ट्र हित, धर्म हित, समाज हित, परिवार हित अथवा स्वामिहित और प्रेम हित, बलिदान कर दे।

प्रेम को जीवनाधार मानने के अर्थ यह हुए कि वीर-गाथा-काल तथा सामन्तयुग ने स्त्री जाति की अपूर्व महत्ता प्रमाणित की। नारी प्रेम की प्रतीक है। इस आदर्श को मध्ययुग ने पूर्ण रूप से समझा था। नारी का प्रेम उनके लिए एक आध्यात्मिक अनुभव था जिसमे दैवी आनन्द और स्वर्गीय शान्ति थी। यह प्रेम पार्थिव जगत से परे उस देश का प्रेम था जिसमे नारी दैवी गुणों से आभूपित होकर प्रकट होती है। लालसा और लोलुपता उसे छू नहीं पाती. संसार उसे सीमित नही कर पाता। नारी को प्रेम मन्दिर का आराध्य बना कर, आराधक ने उसकी पूजा करने की प्रणाली भी खोज निकाली। यह प्रणाली थी आराधना की, तन्मयता की तथा बलिदान की। वीर जब नारी की आराधना करता तो एक विशेप प्रकार की शब्दावली, एक विशेप प्रकार का शिष्टाचार तथा एक विशेष प्रकार के विनय का प्रयोग करता था। अपनी भाषा, अपने भाव तथा आचार विचार से वह नारी को विश्वास दिला देता था कि उसका प्रेम निस्वार्थ है और वह अपनी आराध्यदेवी का अनन्यभक्त है। वीर-गाथा-काल का यह आदेश था कि नारी की आराधना करो, और यदि वह तुम्हारी आराधना से मुंह मोड़ लेती है तो भी तुम्हारी ही सफलता है क्यो इस अनुभव द्वारा तुममें मानवता और शील का संचार होगा।

अंग्रेज़ी नाट्यकार शेक्सपियर के समुख्ख केवल दो साहित्यिक रास्ते थे। या तो वे रोमीय नाट्यकारों की शैली अपना कर कथावस्तु मे हेर फेर कर नाटक लिखते अथवा वे मध्ययुग की इस अनुपम सामग्री को इकट्ठा कर एक नवीन नाट्य शैली

का निर्माण करते। शेक्सपियर ने अपने विस्तृत अनुभव द्वारा यह जान लिया था कि रोमीय प्रणाली पर लिखे हुए नाटकों की एलिज़बेथ के युग में खपत न हो सकेगी। वे जनता की रुचि से धीरे धीरे परिचित हो रहे थे। वे युग की आत्मा को भी ठीक समझ रहे थे। एलिज़बेथ के समय के स्वर्णयुग की प्रवृत्ति वे भली भाँति पहचान चुके थे। उस युग के इतिहास मे इंगलिस्तान का स्थान बहुत ऊंचा था। राजनीति क्षेत्र मे हर ओर रानी एलिज़बेथ के विजय के डंके बज रहे थे। उनके सबसे बड़े शत्रु, स्पेन के राजा फिलिप की जल सेना के विध्वंस के पश्चात अन्य कोई शत्रु न रह गया था। फिलिप की दाढ़ी झुलस दी गई थी। इधर अंग्रेज़ी जल सेना नए नए जल मार्गों का अनुसन्धान कर संसार-यात्रा सुरक्षित करने का यत्न कर रही थी। सेना नायक ड्रेक तथा राले की पूजा हो रही थी। देश के वीर अपनी सम्राज्ञी की सेवा में अपने को बलिदान कर देने के लिए प्रस्तुत थे। राष्ट्र पर उन्हें गर्व था। सामाजिक क्षेत्र मे भी हर ओर भ्रातृ-भाव, सहानुभूति तथा एकता के दृश्य देख पड़ते थे। सम्राज्ञी ने देश के सामाजिक हृदय पर पूर्ण विजय पा ली थी। उनकी इच्छा ही समाज की इच्छा थी। धार्मिक क्षेत्र में भी इंगलिस्तान ने, अपने को ईसाई धर्म के अधिष्ठाता पोप के शासन से मुक्त कर, सम्पूर्ण धार्मिक स्वत्व सम्राज्ञी के हाथों में सौप दिए थे। इस तरह राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रों मे इंगलिस्तान सफल, सुखी और सन्तुष्ट था।

इस स्वतन्त्र वातावरण के लिए रोम की नाट्य प्रणाली उपयोगी न थी। अंग्रेज़ी जीवन के नवीन उत्साह, नवीन मानवता, नवीन अनुभव तथा नूतन उत्कर्ष के लिए कदाचित् मध्ययुग की पृष्ठ-भूमि तथा उस समय की रोचक तथा मानवी-आदर्शों से परिपूर्ण सामग्री ही रुचिकर होती। इस सत्य को शेक्सपियर ने भली भाँति समझ लिया था।

इस साहित्यक अनुभव का यह तात्पर्य नहीं कि शेक्सपियर ने सुःखान्तकी लिखने के नए, सिद्धान्त अथवा नियम बनाकर नाटक लिखना शुरू किया। शेक्सपियर ने न तो कोई नाटकीय सिद्धान्त स्थापित किए और न कोई नियमों की सूची बनाई। अपनी नवीन सूझ, अपने विस्तृत अनुभव तथा अपनी बौद्धिक-शक्ति द्वारा उन्होंने एक ऐसे सुःखान्तक—जगत का निर्माण किया जो मध्ययुग की पृष्ठ-भूमि तथा उसके अनेक अवयवों द्वारा बना था। अपनी कल्पना द्वारा उन्होने जो कथावस्तु चुना, जो पात्र निर्मित किए, जो वातावरण सजाया उसमें दैवी रूप से वास्तविक सुःखान्तकी की प्राण-प्रतिष्ठा होती गई। उनका सुःखान्तक-जगत कल्पना तथा यथार्थ के अनुपम सामजंस्य द्वारा आर्विभूत है।

साहित्यिक रूप में शेक्सपियर की सुःखान्तकी एक ऐसी नाटक प्रणाली है जिसके अनुसार चुने हुए कथावस्तु के अन्त मे आनन्द, सुख और सन्तोष का प्रतिपादन रहता है। उस कहानी अथवा कथा-वस्तु के अन्तिम चरण में हर्ष तथा सन्तोष दोनों ही मिलते हैं। इस नियम को मान लेने के पश्चात् यह डर रहता है कि यदि अन्तिम चरण में हर्ष तथा सन्तोष निश्चित है तो पात्र और पात्रिया जा नाट्य-कार निर्मित करता है वे उसके हाथ की कठपुतली के समान होंगी क्योंकि बिना इसके अन्तिम उद्देश्य की पूर्त्ति नहीं होगी। यदि पात्र नाट्यकार के उद्देश्य से स्वतंत्र रह कर क्रीड़ा करते तो यह संभव था कि अंत में सुख और शान्ति न मिलती। फिर, इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए कथावस्तु का भी निर्माण होना चाहिए था क्योंकि यदि कथावस्तु जीवन के किसी अंग को लेकर ज्यों कि त्यों रख दी जाती तो संभव था कि अंत में सुख मिलता ही नहीं। इन दोनों कठिनाइयों पर शेक्सपियर ने अभूतपूर्व रूप से विजय पाई।

इस विजय में उनकी कल्पना तथा यथार्थ-ज्ञान का विशेष हाथ

था। उनके यथार्थ ज्ञान ने उन्हें जीवन की विषमता, उसकी कटुता तथा उसकी अव्यवस्था का परिचय दिया था, उनकी कल्पना ने उन्हें उस जगत का दर्शन कराया था जहाँ प्रेम, श्रद्धा तथा सहानुभूति द्वारा सुख तथा शान्ति का साम्राज्य प्रसारित था। प्रश्न यह था कि इन दोनों अनुभवों मे सामंजस्य किस तरह स्थापित किया जाय। यह तो केवल वही कलाकार कर सकता था जिसकी हथेली पर दोनों जगत का सम्पूर्ण सार स्थित हो और जो दोनों जगत की सत्यता पर विश्वास करता हो। शेक्सपियर ऐसे ही कलाकार थे। उन्होंने यथार्थ की नींव पर कल्पना का संसार बसाना शुरू किया। अपनी सूक्ष्म दृष्टि से, उन्होंने मानव जीवन को अस्तव्यस्त तथा कटु बनाने वाले कार्यों, विचारों तथा भावों को कल्पना जगत के उन रास्तों पर चलाया, जिस पर चल कर अव्यवस्था, सुव्यवस्था में परिणत हुई तथा कटुता सहानुभूति और दया से रंजित होती चली गई और अन्त मे वह प्रेम, करुणा और शान्ति के रूप में प्रस्फुटित हुई।

नाटकों मे कल्पना का बाहुल्य होते हुए भी शेक्सपियर की सुःखान्तक कला मे यथार्थ का बहुत बड़ा स्थान है। उनका सुःखान्तक-जगत, हमारा दिन प्रति दिन का लौकिक जगत है, जिसमें हम हिल-मिल कर अपनी पारिवारिक तथा सामाजिक क्रीड़ाएँ करते हैं। इस लोक के जीवन की ही दिनचर्या उनकी पृष्ठभूमि है इसी जीवन के प्रश्नों का हल हम उनमे पाते हैं। वर्त्तमान ही उनका रंग-स्थल है। नायक और नायिकाएँ, वर्त्तमान को ही सत्य मान कर अपनी कुशल मानवता, अद्भुत सहानुभूति तथा प्रेम द्वारा, लौकिक कठिनाइयों पर विजय पाते हैं और कटुता को मृदुता में तथा वैषम्य को दया में परिणत करते रहते हैं। उनके चरित्र में, उनके आचरण में, उनकी विचार शैली में उन यथार्थ तथा स्वाभाविक गुणों का समावेश रहता है जिसके द्वारा वह अपनी जीवन यात्रा, संसार में सफलता पूर्वक पूरी

करते हैं।

इन पात्रों को निर्मित करने में कलाकार को काफी परिश्रम करना पड़ा। धीरे-धीरे व्यवहारज्ञान, तथा सासारिक अनुभवों ने उनकी कला का संशोधन किया। नवीन अनुभूतियों ने उन्हें मानव-चरित्र की गहराइयों तक पहुँचाया और ज्यों ज्यों वे वयस में बढ़ते गए त्यों-त्यों उनका नाट्य-कला-ज्ञान तथा मानव-हृदय-ज्ञान श्रेष्ठतर होता गया। अन्त में उनका ज्ञान तथा उनकी कला उस स्तर को पहुँची जिसे अब तक कोई अन्य कलाकार नही छू पाया है।

शेक्सपियर के सभी सुःखान्तकी रोमांचक हैं। रोमांचक से पहला तात्पर्य तो यह है कि उनके सुःखान्तकी रोमकी सु.खान्तक-नाट्य-प्रणाली के विपरीत हैं। पृष्ठ-भूमि, कथावस्तु, वस्तु-विन्यास, पात्र-चयन, भावोद्रेक तथा वातावरण मे वे बिलकुल भिन्न हैं। रोम के सुःखान्तक-जगत की पृष्ठ-भूमि थी रोम, और उसकी सामाजिक और राजनीतिक भित्तियाँ। शेक्सपियर ने यह भित्ति बदल कर उसके स्थान पर एलिज़बेथ के अँग्रेज़ी समाज और उसके नवीन आचार विचार की नीव पर अपना नाटकीय ढाँचा स्थिर किया। जो कथावस्तु रोमनों ने अपनाई उसके भी विपरीत शेक्सपियर ने षड़यन्त्रपूर्ण घटना प्रधान कथावस्तु न चुन कर ऐसे कथा-वस्तु का निर्माण किया जिसमें पात्र-प्रधान थे। अपनी पहली रचनाओं में यद्यपि उन्होंने घटना-प्रधान कथावस्तु अनुकरण रूप में चुना तिस पर भी उसमें कुछ ऐसे नवीन पात्रों को रखा है जो वहाँ परदेशी के समान जान पड़ते हैं। वस्तु-विन्यास में शेक्सपियर ने बहुत मौलिकता से काम लिया है। न तो उनमे षड़यन्त्र द्वारा नाटकीय ध्येय की पूर्त्ति होती है और न समाज-साधना द्वारा ही। उनमें स्वाभाविक आचार विचार द्वारा तथा कल्पनात्मक विश्लेषण द्वारा ही नाट्य-कार अपने उद्देश्य की पूर्त्ति करता है। शेक्सपियर का पात्र चयन भी अत्यन्त सराहनीय

है। उनके पात्र रोमीय नाट्यकारों के पात्रों के समान अपने कलाकारों के हाथ की कठपुतली नहीं हैं। उनका एक अलग जगत है, उनका एक अलग अस्तित्व है। वे कलाकार के शासन से विमुक्त होकर अपनी स्वतन्त्र क्रीड़ाएँ करते हैं। जिस प्रकार अन्डे से फूटने के पश्चात् छोटे पक्षीवृन्द मनमाने रूप में अलग जीवन बिताने लगते हैं उसी प्रकार नाट्यकार की कल्पना तथा यथार्थ की समुचित प्राण-प्रतिष्ठा पाकर अपना वे अलग संसार बसाते हैं। यदि उन पर किसी का शासन है तो वह है उनके स्वभाव का तथा उनके व्यक्तित्व का।

इन कलामय पात्रों द्वारा जो भावोद्रेक नाटकों में प्रस्फुटित है उसमें न तो अश्लीलता है, न पाशविकता है और न अनैतिकता है। शेक्सपियर के नाटकों में भावोद्रेक का स्रोत है विशाल तथा शालीन मानव-हृदय, जो इस पार्थिव जगत की जड़ता से दूर, उसकी दुःशीलता से परे एक दैवी गुणों से पूर्ण, मानवता से सिक्त आध्यात्मिक जगत है। जिन-जिन भावों का प्रसार वहाँ होता है वे हैं सहानुभूति, करुणा, तथा प्रेम। इन्हीं भावों के आधार-स्वरूप उनका वातावरण भी है। इस वातावरण में प्रधान तत्व हैं सुख और शान्ति, हास्य और हर्ष। यद्यपि नाटक के पहले अंकों में कठिनाई, दुख, विपद तथा भय के बादल मंडराते हैं, परन्तु यह कुछ ही देर के लिए होता है। धीरे-धीरे, ज्यों-ज्यों वस्तु विन्यास की प्रगति होती जाती है, ये बादल एक बार ज़ोर से कड़क कर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और उसके पश्चात् सुख-सूर्य का उदय होता है जिसके शुभ्र रश्मियों द्वारा सुख और हर्ष का मृदुल प्रसार होने लगता है। कहाँ रोमीय-नाटकों का पार्थिव, हिंसक, तथा लोलुप वातावरण, कहाँ शेक्सपियर ने नाटकों का आध्यात्मिक, स्नेहसिक्त, मानवता-पूर्ण वातावरण दोनों मे महान अन्तर है।

३
शेक्सपियर के सुःखान्तकी

पृष्ठ-भूमि

शेक्सपियर के सुःखान्तकी का पहला महत्व-पूर्ण गुण है उनकी पृष्ठ—भूमि। उनके सभी सुःखान्तकी अपनी पृष्ठ-भूमि के लिए नए, सुन्दर तथा आकर्षक स्थान चुनते हैं। कहीं वे मध्य-युग के स्वर्ण-विहान की सुन्दर भूमि इटली के नगर वेरोना, मिलान तथा मैन्टुआ (टू जेन्टिलमेंन आव वेरोना), कही मध्य-युरोप के सम्पन्न तथा सुन्दर नगर विएना (मेज़र फार मेज़र); कहीं सुदूर दक्षिण इटली के समुद्र तट पर बसे हुए मेसिना (मच एडु एवाउट नथिगं) कहीं सम्पन्न नेवारे (लब्ज़ लेबर लास्ट), कहीं अनुपम सामुद्रिक दृश्यों का स्थल विनिस (द मर्चेन्ट आव विनिस) कहीं आर्डेन के विजन वन (ऐज़ यू लाइक इट); कहीं प्राचीन इल्लिरिया का समुद्र तट (टवेल्फथ नाइट); कहीं अपरिचित टापू का समुद्र तट (द टेम्पेस्ट), कही वैभव पूर्ण फ्लारेन्स की भूमि (आल इज़ वेल दैट एन्ड्स वेल), चुनते हैं। यह पृष्ठ-भूमि भौगोलिक रूप में तो फ्रास, इटली तथा उनके पास के समुद्र तट पर स्थित हैं परन्तु वास्तव में उनमे इंगलिस्तान का वैभव, उसका समकालीन ऐश्वर्य तथा उसका प्राणप्रतिष्ठित है।

इसके साथ-साथ जो कथावस्तु नाट्यकार द्वारा चुनी गई वह प्रायः इटली तथा फ्रास की प्राचीन तथा ऐतिहासिक गाथाओं से चुनी गई थी। इन प्राचीन गाथाओं में मध्य-युग के राजनीतिक, सामाजिक तथा पारिवारिक आदर्शों की झाकी मिलती है। वैलेनटाइन की वीरता, दृढ़ता, सहानुभूति तथा मैत्री और प्रोटियस के प्रति जूलिया का अनन्य प्रेम तथा उसकी विजय (टू जेन्टिलमेन आव वेरोना); आइज़ावेला का अप्रतिम सौन्दर्य तथा उसकी नैतिक शालीनता और मेरियाना का

अटूट प्रेम (मेज़र फार मेज़र), हीरो की निष्कपटता तथा उसका स्नेह, विएट्रिस की हास्य प्रियता और निष्ठा (मच एड् एवाउट नथिंग); फ्रांस की राजकुमारी का अनुपम सौन्दर्य तथा राज्य पदाधिकारियों का अस्वाभाविक हठ, तत्पश्चात् प्रेम की अपूर्व विजय (लव्ज़ लेवर लास्ट), पोर्शिया का शारीरिक तथा मानसिक सौन्दर्य, और पितृ भक्ति; एन्टोनियो तथा बेसानियो की सफल मैत्री तथा प्रेम की विजय (द मर्चेन्ट आव विनिस), राज़लिन्ड का अनुपम सौन्दर्य, सहनशीलता तथा प्रेमनिष्ठा सीलिया की कर्त्तव्य-परायणता; आरलैण्डो की वीरता तथा धैर्य, ऐडम की अपूर्व स्वामि-भक्ति (ऐज़ यू लाइक इट), वायला का अविरल स्नेह तथा स्वामि भक्ति, ओलीवीया की भ्रातृ-भक्ति तथा प्रेम; सर टोवी वेल्च तथा ऐण्ड्र एग्यूचीक की रंगरलियाँ (टवेल्फथ नाइट) हेलेना की पतिभक्ति उसकी निष्ठा तथा उसकी विजय (आल इज़ वेल दैट एण्ड्स वेल) सभी ऐसे स्थल हैं जहाँ मध्ययुग के आदर्श प्रसारित हैं। इन नाटकों के नायक तथा नायिकाएँ वास्तव में इंगलिस्तान के समकालीन समाज के प्रतिविम्ब हैं उन पर अंग्रेज़ी आचार-विचार की पूरी छाप है।

इन नाटकों के वस्तु विन्यास में भी मध्य-कालीन-युग का वहुत वड़ा हाथ है। उस समय के शासन-प्रणाली-आदर्श, राज्यादर्श, सामन्तादर्श, समाजादर्श सभी के समुचित प्रदर्शन में वस्तु-विन्यास की पूर्ति होती चलती है। कथावस्तु को आधार स्वरूप मान कर, कलाकार विचारों तथा भावों के उत्कर्ष तथा अपकर्ष द्वारा अपने सुःखान्तकी की आत्मा का सृजन करता चलता है। राज्यभक्ति की मर्यादा, स्वामि भक्ति की पराकाष्टा, पति भक्ति की अजेय शक्ति, नैतिक जीवन की श्रेष्ठता, सामाजिक जीवन की सार्थक सहानुभूति के सहारे वस्तु की सजावट होती रहती है। इस वस्तु-विन्यास में नाट्यकार ने कल्पना तथा यथार्थ के अभूतपूर्व सामंजस्य का दर्शन कराया है। प्रायः सभी

सुःखान्तकी के पहले अंकों मे विषाद, भय, अमंगल तथा विपत्ति की छाया प्रस्तुत है। यह है जीवन का यथार्थ। इसकी वास्तविक अनुभूति यथार्थ जीवन को भलीभाँति समझ कर उसके तथ्य को निचोड़ लेने में है। नाट्यकार में यह अनुभूति पूर्ण-रूप से है। इसी अनुभूति को आधार-स्वरूप रख कर कल्पना अपनी मृदुलता, सुकुमारिता, सहृदयता, तथा मानवता की कूंची द्वारा उसको रंजित करती रहती है जिसके बाद हमें जीवन सुखकर, हर्ष-पूर्ण तथा शान्तिमय प्रतीत होने लगता है। वस्तु विन्यास की सब से सरल तथा फलप्रद विधि है भावोद्रेक जिसके द्वारा नाटक की सफलता प्रमाणित होती है।

जिन भावों के उत्कर्ष तथा अपकर्ष द्वारा कलाकार अपने ध्येय को पूरा करता रहता है उनमें मुख्य हैं—प्रेम की सरल निष्ठा; भक्ति की अबाध गति, मानवता की अटूट डोर तथा क्षमा और शान्ति का अपूर्व विस्तार। इन भावनाओं के कुछ शत्रु समय-समय पर आ-आ कर इनकी हँसी उड़ाने का प्रयत्न करते हैं; अपनी सत्ता प्रमाणित करने की कोशिश करते हैं मगर उन्हें सफलता नहीं मिलती। द्वेष तथा छल, क्रूरता तथा कटुता, स्वार्थ तथा प्रतिशोध, लोलुपता तथा लम्पटता सभी मैदान में ताल ठोंकते उतरते हैं मगर जीवन के स्वर्णिम नियमों के आगे वे मुँह की खाते हैं और प्रेम, करुणा तथा क्षमा अन्त में अपनी विजय पताका फहराते रहते हैं। इन्हीं तीन तत्वों का वातावरण बनाने में भी विशेष हाथ है।

नाटकीय रूप से तो इन नाटकों का वातावरण इंगलिस्तान का चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दी का वातावरण है। यही वातावरण बहुत कुछ मध्ययुग का भी था। इस वातावरण में भावना तथा कल्पना का पूर्ण विस्तार है। अद्भुत कर्म दुष्कर कार्य, उत्साहपूर्ण तथा साहसी जीवन, स्वामिभक्ति, पितृ भक्ति, प्रेमाराधना, श्रद्धोन्मत्त जीवन, परी देश की रंजकता सभी एक के बाद एक हमारे सामने

आते हैं। इन सब से शेक्सपियर के नाटक ओत-प्रोत हैं। परन्तु इस वातावरण का मुख्य आधार है प्रेमाराधन। यदि एक शब्द में कलाकार के नाटकों का वास्तविक आधार देखा जाय तो वह होगा—प्रेमाराधना।

शेक्सपियर के सभी नाटकों मे प्रेमोपासना ही मूलाधार है। दार्शनिक दान्ते ने नारी की महत्ता साहित्य में उसी प्रकार घोषित की थी जैसे किसी देश का विजेता अपनी विजय सूचना दुंदुभि द्वारा दिया करता था। दान्ते के लिए नारी ईश्वरीयता की प्रतीक थी। वह अपने दैवी गुणों द्वारा मानव जीवन के उत्थान के लिए पृथ्वी पर अवतरित होती थी। उसके दर्शन मात्र से मानव जीवन को नई सीमाएँ दिखलाई देने लगती थीं। उसके स्पर्श मात्र से ही पार्थिव जगत का बोझ हलका होकर समय के गर्त मे विलीन हो जाता था। उनके संसर्ग में रहने का वरदान पाकर मनुष्य के हृदयाकाश मे सुख तथा शान्ति की चांदनी फैल जाती थी। मनुष्य का मानसिक विकास, उसकी आध्यात्मिक प्रगति, उसकी नैतिक उन्नति, नारी संसर्ग के वरदान से ही हो सकती थी। उसकी एक कृपा-कटाक्ष से मानव-हृदय मे पूर्णता आ सकती थी।

नारी का यह बौद्धिक तथा आध्यात्मिक रूप पूर्णतयः समझना सब के लिए सरल नहीं था। इस आध्यात्मिक अनुभव को लोग पार्थिव रूप मे देखना चाहते थे। इस कमी को प्रसिद्ध कवि पीट्रार्क ने पूरा किया। उन्होंने नारी को संसार के प्रांगण मे स्त्री रूप मे अवतरित किया। इस रूप में उन्होंने उसे प्रेम, (संयोग तथा वियोग), दया, करुणा, सहानुभूति तथा श्रद्धा के गुणों से रंजित किया। इस अनुभव से सोलहवीं शताब्दी की सम्पूर्ण काया-पलट हो गई। इंगलिस्तान ने भी इस अनुभव को पूर्ण-रूप से ग्रहण किया था।

एलिज़बेथ-कालीन अंग्रेज़ी समाज के लिए प्रेम, जीवन का दूसरा

नाम था। इसी के द्वारा जीवन की सफलता का माप हुआ करता था। इसी की डोर पकड़ कर चलने में ही मानव-जीवन की पूर्णता थी। इसी कारण प्रेम के आग्रह और दुराग्रह; शासन तथा उपयोगिता, उसका तर्क से संबंध तथा विरोध, उसका यथार्थ तथा काल्पनिक जगत, उसकी निष्ठा तथा सन्देह, सभी पर शेक्सपियर ने प्रकाश डाला है। वास्तव में प्रेमाराधन ही उनके सुःखान्तकीयों का प्राण-रूप है।

शेक्सपियर के सुःखान्तकी के तत्व

शेक्सपियर की सुःखान्तक-प्रणाली के अन्तर्गत कई तरह के नाटक हैं जिनके उद्देश्य की पूर्ति अन्य-अन्य साधनों से होती है। यह तो हम मान ही चुके हैं कि सुःखान्तकी का प्रधान कार्य है हास्य तथा हर्ष प्रदर्शन। इसके प्रदर्शन के लिए कलाकार ने कुछ खास सुःखान्तक-तत्वों को ध्यान में रख कर रचना आरम्भ की।

शेक्सपियर के सुःखान्तकी अपने उद्देश्य की पूर्त्ति निम्नलिखित व्यवधानों द्वारा करते हैं—

१. कथोपकथन

२. घटना

३. रोमाञ्चक भाव

४. काव्य-भावुकता

५. चरित्र-चित्रण

६. ग्राम्य जीवन-विश्लेषण

७. विदूषक।

कथोपकथन द्वारा 'लव्ज़ लेबर लोस्ट' में हास्य प्रस्तुत है, 'कामेडी आव एरर्स' घटना प्रधान है, 'मेज़र फार मेज़र' रोमांचक-भाव प्रधान है, 'मिड समर नाइट्स ड्रीम' काव्य-भावुकता प्रधान है, चरित्र-चित्रण

में 'टवेल्फथ नाइट' 'मर्चेन्ट ग्राव विनिस' 'सिम्बेलीन' तथा 'मच एडू एवाउट नथिंग' की गणना है तथा 'ऐज़ यू लाइक इट' और विन्टर्स टेल, में ग्राम्य जीवन के पृष्ठ-भूमि की प्रधानता है। विदूषक प्रायः सुःखान्तकीयों में है। इस अंग का विवेचन हम प्रहसन-खण्ड में विस्तारपूर्वक करेंगे।

आलोचना सिद्धान्त

सुःखान्तकी के विषय—सभी युरोपीय देशों के दार्शनिकों, साहित्यकारों तथा आलोचकों ने सुःखान्तकी के विषय-चयन, उद्देश्य तथा निर्माण-शैली पर अपने-अपने विचार प्रकट किए हैं। प्रायः यूनानी तथा अंग्रेज़ी लेखकों के विचारों में बहुत साम्य है। इसका कारण यह है कि अंग्रेज़ी साहित्यकार, यूनानी दार्शनिकों के साहित्य-सिद्धान्तों से बहुत अधिक प्रभावित हैं।

यूनानी दार्शनिक तथा साहित्यकार अरस्तू और व्याख्यान-शैली के आचार्य सिसेरो तथा रोम के आलोचक क्विनटिलियन ने सुःखान्तकी का विषयाधार समाज के निम्न कोटि के लोगों का ही जीवन माना है। उनका विचार है कि जिस श्रेणी के लोगों से हमें नैसर्गिक रूप से सहानुभूति तथा प्रेम न हो सके उसी वर्ग को विषय-रूप मान कर सुःखान्तकी की रचना हो सकती है। इससे यह भी संकेत मिलता है कि जिस श्रेणी के लोगों से हमे घृणा हो अथवा स्वाभाविक विराग हो उसी वर्ग के आधार रूप सुःखान्तकी लिखी जा सकती है। कुछ हद तक यह सिद्धान्त मान्य हो सकता है। परन्तु इस सिद्धान्त से यह भ्रम मूलक नियम, निष्कर्ष रूप से निकल सकता है कि श्रेष्ठ वर्ग के समाज के विषयाधार पर सुःखान्तकी की रचना नहीं हो सकती। इस सिद्धान्त के प्रतिकूल अंग्रेज़ी नाट्यकार शेक्सपियर के सभी सुःखान्तकी प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिनके विषयाधार निन्यानवे प्रतिशत श्रेष्ठ-वर्ग का

ही समाज है।

निम्न-कोटि के समाज को सुःखान्तकी का विषय बनाने में यूनानी साहित्यकारों के मन में श्रेष्ठ-वर्ग के प्रति पक्षपात का भाव विशेष मालूम होता है। यूनानी समाज में ग़ुलामी की प्रथा एक प्रकार से मान्य थी। यह वर्ग सबसे निम्न कोटि का था। इस वर्ग को हास्यास्पद प्रमाणित करना इस समय के समाज के लिए क्षम्य हो सकता था और शायद इसीलिए उस समय के साहित्यकारों ने इसी वर्ग को सुःखान्तकी का विषय प्रमाणित किया है।

इस पक्षपात का दूसरा कारण यह था कि श्रेष्ठ वर्ग के सभी लोग राज्य-शासन में भाग लेते थे। उन्हें बहुत से सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे, उनका समकालीन समाज में बहुत मानदान था और इस वर्ग के व्यक्तियों अथवा सम्पूर्ण समुदाय को व्यङ्ग पूर्ण साहित्य का शिकार बनाना उन्हें जनता की आँखों में नीचे गिरा कर, उन पर से विश्वास और श्रद्धा हटा देना था। ऐसे विचार उस समय मान्य नहीं हो सकते थे। फलतः प्राचीन दार्शनिकों ने श्रेष्ठ वर्ग को दूर रख कर केवल निम्न वर्ग को ही सुःखान्तकी का आधार बनाने का आदेश दिया।

इस पक्षपात का एक और साहित्यिक कारण हो सकता है। वह यह है कि यूनानी नाट्यकार तथा दार्शनिक प्रहसन तथा सुखान्तकी के विषयों को पूर्णतया विभाजित नहीं कर सके थे। यदि वे साहित्यिक रूप से प्रहसनों तथा सुखान्तकीयों के विषय-भेद पर मनन कर अपने विचार प्रस्तुत करते तो शायद यह पक्षपात इतना स्पष्ट न हो पाता। प्रहसन के विषय तथा निर्माण शैली पर हम अलग विवेचन देंगे, किन्तु यहाँ स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि यूनानी लेखक ऐरिस्टाफनीज़ के नाटक प्रहसन के अधिक निकट हैं; सुःखान्तकी के कम। या यों कहिए कि उनमें सुःखान्तकी की आत्मा पूर्ण-रूप से प्रस्फुटित नहीं हुई और

वास्तव में उनमें प्रहसनात्मक गुण ही अधिक हैं। रोम देश की
सुःखान्तक रचना का हम पहले विवेचन कर चुके हैं। यहाँ इस बात
का निर्णय करना है कि वास्तव में सुःखान्तकी के विषयाधार क्या क्या
हैं और उनकी पूर्ति के साधन क्या हैं।

सुःखान्तकी नाम से ही यह स्पष्ट है कि इनके विषयाधार वे भाव-
नाएँ नहीं हो सकतीं जिनके द्वारा हमें दुःख अथवा पीड़ा का अनुभव
हो। इसके साथ साथ उन परिस्थितियों को जिनके फल स्वरूप हत्या,
हिंसा तथा पीड़ा का भाव प्रदर्शित हो हम सुःखान्तकी के विषय नहीं
मान सकते। वास्तव में ये विषय तो दुःखान्तक-रचना के उपयुक्त हैं।
इसी सिद्धान्त का पूर्ण प्रतिपादन संस्कृत नाट्यकारों ने भी किया है।
संस्कृत सुःखान्तकीयों का विषयाधार भी श्रेष्ठ वर्ग का समुदाय है।
'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'उत्तर राम चरित' तथा 'विक्रमोर्वशी' में श्रेष्ठ
समाज ही दृष्टि गोचर होता है। यह सिद्धान्त अंग्रेज़ी नाट्यकारों ने
केवल दुःखान्तकी के लिए ही श्रेयस्कर माना है और सुःखान्तकी के
लिए उन्होंने साधारणतः निम्नकोटि का ही समाज ग्राह्य समझा है।
इस सिद्धान्त की पूर्ति शेक्सपियर लिखित सुःखान्तकीयों से सम्पूर्णतयः
नहीं होती क्योंकि उनका समाज भी श्रेष्ठ वर्ग का है मगर इस बात
को ध्यान में रखना आवश्यक है कि सुःखान्तकी के उद्देश्य की पूर्ति
अधिकाश रूप मे निम्न कोटि के लोगों ही द्वारा हुई है।

अंग्रेज़ी नाट्यकारों ने सुःखान्तकी को, प्रहसन के समान ही समाज
से संबंधित मानकर नाट्य रचना की है। व्यक्ति विशेष पर शायद ही
कोई सुःखान्तकी आधारित हो; जहाँ पर व्यक्ति विशेष द्वारा हास्य प्रस्तुत
होता है वहाँ व्यक्ति विशेष किसी वर्ग का प्रतिनिधि-स्वरूप अवश्य रहता
है। इसी कारण उसका हास्य चित्ताकर्षक तथा व्यापक होता है। सामा-
जिक अव्यवस्थाएँ, मानसिक असंगति तथा जीवन की हास्यास्पद
कुरूपता साधारणतः विषयाधार प्रमाणित होते हैं। विशेषतः मानसिक

असंगति ही श्रेष्ठ सुःखान्तकी की भित्ति है। मानसिक असंगति से तात्पर्य मनुष्य के मानस में उठती हुई उन भावनाओं से है जो स्वाभाविक नहीं हैं मगर पात्र उन्हें पूर्णतयः स्वाभाविक समझे हुए कार्य करता चलता है। अथवा वह कहता कुछ है करता कुछ है, सोचता कुछ है बोलता कुछ है; उसके तर्क और विश्वास में कोई सामंजस्य नहीं, उसके हृदय और मस्तिष्क में अनुकूलता नहीं; उसके वास्तविक जीवन तथा उसके आदर्शों में साम्य नहीं। इस मानसिक असंगति के फलस्वरूप गर्व, पाखण्ड, घृणा, असत्य, छल, प्रपच, अस्वाभाविकता तथा हास्यास्पद कार्यों की सृष्टि होती रहती है और सुःखान्तकी की आत्मा उसे देख देख मुस्कुराती रहती है।

सुःखान्तकी का उद्देश्य—सुःखान्तकी की आत्मा के मुस्कान में ही सुःखान्तकी के लेखक का उद्देश्य छिपा रहता है। साधारणतः सुःखान्तकी के उद्देश्य के विषय में रूढ़िरूप से, साहित्यकारों का एक मत नहीं। एक वर्ग का कहना है कि सुःखान्तकी का उद्देश्य आनन्द प्रस्तुत करना हैं। इसके विपरीत दूसरा वर्ग कहता है कि उनमें सुधार की भावना प्रधान होनी चाहिए। कुछ नर्म दल के आलोचकों ने दोनों वर्गों की बात रखने के लिए दोनों भावनाओं का समावेश कर लिया है। उन्होंने सुधार की भावना की अस्पष्टता तथा आनन्द की भावना का प्राधान्य अपना श्रेष्ठ सिद्धान्त माना है। फ़ासीसी लेखकों ने भी दोनों सिद्धान्तों को आंशिक रूप में माना है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि आनन्द की सष्टि सभी नाट्यकारों ने, सुःखान्तकी का प्रथम ध्येय माना है। सुधार की भावना लेखक की रुचि के अनुसार स्पष्ट, अस्पष्ट तथा गोपनीय रह सकती है।

सुःखान्तकीयों के विस्तृत अध्ययन से हम इस बात का भी पूरा पता चला सकते हैं कि नाट्यकारों ने सुधार का माध्यम हास्य माना है। परन्तु एक जटिल प्रश्न जिस पर काफ़ी मतभेद आलोचकों में रहा

है यहाँ उठ खड़ा होता है। वह प्रश्न हास्य के लक्षण का है, हास्य कैसा हो, उसका प्रभाव हृदय पर हो अथवा मस्तिष्क पर हो इस विषय पर काफ़ी मतभेद रहा है। आलोचकों के नाट्य सिद्धान्तों से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि श्रेष्ठ सुःखान्तकी का हास्य संपूर्ण-तया मानसिक होता है। मेरीडिथ के अनुसार श्रेष्ठ सुःखान्तकी का उद्देश्य मानसिक हास्य ही प्रस्तुत करना है और इसी गुण से उसकी श्रेष्ठता का निर्णय किया जाना चाहिए।

सुःखान्तकी की शैली—हास्य के गुण के साथ साथ आलोचकों ने सुःखान्तकी की शैली पर भी मतभेद प्रकट किया है। रूढ़िवादी आलोचकों के अनुसार सुःखान्तकी के रंग स्थल पर वृद्ध-पात्रों को उपदेश प्रदान करना चाहिए, युवाओं को अवगुणों का शिकार बनना चाहिए तथा विदूषक को अनर्गल सवाद करना चाहिए। साधारणतया आलोचकों ने हास्य की सृष्टि द्वारा सुधार की भावना का प्रसार सुःखान्तकी का प्रधान तत्व माना है। सामाजिक कुरीति, मानसिक असंगति तथा अस्वाभाविक आचरण को व्यंग्य, कथोपकथन पटुता, हास्य तथा उपहास, विदूषक तथा पात्र-वैचित्र्य द्वारा ही सुधारने का आदेश लेखकों ने दिया है।

इस हास्य में श्रेष्ठ आलोचकों ने सहानुभूति का विशेष स्थान माना है और निर्मम-हास्य का निषेध किया है। सहानुभूति पूर्ण तथा मृदुल हास्य द्वारा प्रभाव स्थायी तथा तीव्र रूप से पड़ता है। परन्तु निर्मम हास्य से, चाहे सुधार की भावना जाग्रत हो चाहे न हो घृणा की मात्रा अवश्य बढ़ जाती है। प्रायः सभी आलोचकों ने यह सिद्धान्त एक मत से माना है कि सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रगति के साथ साथ सुःखान्तकी की पृष्ठ-भूमि, उसका विषयाधार, उसकी शैली, उस का प्रभाव तथा उसकी वास्तविकता भी परिवर्तित होती जायगी।

अब हम श्रेष्ठ आलोचकों के सिद्धान्तों का संकलन प्रस्तुत करेंगे

जिसके आधार पर उपरोक्त समीक्षा की गई है।

(५)

आलोचकों के वक्तव्य

अफ़लातूं—'ईर्ष्या अथवा द्वेष की भावना ही सुःखान्तकी का आधार है। सौन्दर्य, ज्ञान तथा धन का अहंभाव जब अपनी सीमा का उलंघन करता है तो उसके प्रति हमें घृणा होने लगती है और हम उसकी हँसी उड़ाते हैं। अपने मित्रों के दुर्भाग्य पर हमें कभी-कभी हँसी आती है और इस भावना मे हर्ष अथवा दुःख का मिश्रण रहता है।'[1]

अरस्तू—'किसी व्यक्ति की हँसी उड़ाना उसकी निन्दा करना है; सुःखान्तकी का उद्देश्य व्यक्ति विशेष का उपहास न होकर निम्न वर्ग के समाज का अनुकरण है। इसका आधार त्रुटि अथवा कुरूपता है जिसमें न तो पीड़ा और न विनाश का भय है। उदाहरण के लिए सुःखान्तकी खेलने वालों के मुँह पर लगा हुआ बनावटी चेहरा कुरूप तो है परन्तु उसमें पीड़ा की भावना नहीं है। कुरूपता कई प्रकार की हो सकती है; इसके अन्तर्गत मानसिक असंगति, अनौचित्य, अनर्थकता, जीवन की विपरीतता, जटिलता, द्वन्द्व तथा अनैतिकता सभी का समावेश है।'[2]

सिसेरो—'नीचता और कुरूपता ही सुःखान्तकी का आधार है। जब ये दोष ऐसे मनुष्यों मे, जो कि न तो श्रेष्ठ वर्ग के हैं न दुर्भाग्य से घिरे हैं, और न हमारी घृणा के पात्र हैं, प्रकट होते हैं तो वे ऐसे

---

[1] प्लेटो—'फ़िलीबस'

[2] अरस्तू—'एथिक्स'

विषय वन सकते हैं जिनके द्वारा सुःखान्तकी का निर्माण हो सकता है। हमारी भ्रममूलक आशाएँ, व्यंगपूर्ण चरित्र-चित्रण, निरर्थक वार्तालाप, अनर्गल सम्वाद, अवगुणों का उपहास, सभी के द्वारा हास्य प्रस्तुत किया जा सकता है।'[1]

क्विनटिलियन—'हास्य का संवन्ध निम्नकोटि के जीवन से ही है। शिष्टता, शील, तीक्ष्ण वादाविवाद, शाब्दिक वितण्डावाद, परिहास तथा अनुरूपता का आधार लेकर हास्य प्रकट किया जाता है। श्लेषपूर्ण सम्वाद ही सवसे अधिक हास्यपूर्ण होते हैं।'

म्यूज़िओ—'सुःखान्तकी के कलाकारों का ध्येय हास्य प्रस्तुत करना नहीं वरन् चरित्र सुधार हैं।'

मिन्टर्नो—'सुःखान्तकी के लिए हास्य तथा सुधार दोनों ही आवश्यक हैं।'

स्कैलिजर—'सुःखान्तकी एक वृहत् नाटकीय काव्य है। इसमें कूटयुक्ति तथा प्रपंचपूर्ण कार्य-व्यापार का सम्पादन लोकप्रिय शैली में होता है।'

टामस विलसन—'हास्य की परिभाषा असम्भव है। कुरूपता, अशुद्धता, भ्रष्टता तथा दोषपूर्ण व्यवहार द्वारा ही हास्य प्रकट होता है।'

जार्ज ह्वेटस्टोन—'सुःखान्तकी के निर्माण की विधि सरल है। वृद्ध शिक्षा प्रदान करे, युवा दोषपूर्ण हों, वेश्याएँ लम्पटतापूर्ण हों, वालक दुखी हों, विदूषक अनर्गल सम्वाद करे और ऐसे उपहासपूर्ण कार्य करे कि जिससे सुधार तथा आनन्द की भावना उठती रहे तभी श्रेष्ठ सुःखान्तकी का निर्माण होता है।'

सर फ़िलिप सिड्नी—'सुःखान्तकी का ध्येय स्पष्ट है। उसका

---

[1] सिसेरो—'दि आरेटार'

उद्देश्य हास्य प्रकट करना नहीं है। सुःखान्तकी तो केवल हमारे जीवन के साधारण अवगुणों का उपहासपूर्ण प्रदर्शन मात्र है। हमारे घरेलू तथा निजी जीवन के दोषों का स्पष्टीकरण सुःखान्तकी का प्रधान ध्येय है।'[1]

बेन जानसन—'सुःखान्तकी तथा दुःखान्तकी के तत्व समान हैं और उनका उद्देश्य भी समान है। शिक्षा तथा आनन्द प्रदान दोनों ही का कार्य है। हास्य तो केवल सहकारी के समान है। केवल हास्य प्रदर्शन ही सुःखान्तकी का उद्देश्य नहीं, परन्तु सुःखान्तकी का विषय भी वास्तविक तथा हर्षयुक्त होना चाहिए।'[2]

सर फ़िलिप सिड्नी—'हमारे जीवन की त्रुटियों और आचरण के दोषों को उपहास्यास्पद बनाना सुःखान्तकी का मुख्य उद्देश्य है। रंगमंच पर इन दोषों के अनुकरण से दर्शकों में उनके प्रति विराग और घृणा उत्पन्न होती है और वे उन्हें अपने जीवन से निकाल फेंकने की चेष्टा करते हैं।'[3]

सर फ़िलिप सिड्नी—'कुछ सुःखान्तकी लेखकों की धारणा है कि बिना हँसी के आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता। यह विचार ग़लत है। नाटकों में हँसी और आनन्द दोनों ही साथ-साथ रह सकते हैं मगर यह सोचना कि हँसी से ही आनन्द मिल सकता है भ्रममूलक है। वरन् दोनों में एक प्रकार का विपरीत सम्बन्ध है। निजी अथवा सामाजिक जीवन के विपरीत कार्यों से हमें हँसी आती है। हँसी तो केवल एक गुदगुदी मात्र है, जो थोड़ी देर में भूल जाती है। आनन्द मे एक प्रकार का स्थायी भाव रहता है। एक अत्यन्त सुन्दर रमणी

---

[1]सर फ़िलिप सिड्नी—'ऐन एपालोजी फ़ार पोयेट्री'

[2]बेन जानसन—'डिसकवरीज़'

[3]सर फ़िलिप सिड्नी—'ऐन एपालोजी फ़ार पोयेट्री'

को देख कर हमें आनन्द मिलता है, हँसी नहीं आती, उसी प्रकार हमें बौनों को देखकर हँसी आती है आनन्द नहीं मिलता। शुभ संयोग में हमें आनन्द मिलता है, हानिकर अवसरों पर हँसी आती है।

मेरे विचार में सुःखान्तकी का ध्येय दर्शकों को केवल हँसाना नहीं है वरन् उन्हें आनन्दपूर्ण शिक्षा प्रदान करना है। अरस्तू ने पाप और दुष्टता द्वारा हँसी प्रकट करने की शैली को निकृष्ट बतलाया है। उनके प्रति तो घृणा उत्पन्न करनी चाहिए और दर्शकों को हँसी न आकर दया आनी चाहिए।"[1]

बेन जॉनसन—सुःखान्तकी तथा दुःखान्तकी के तत्व तथा उनके उद्देश्य समान हैं। दोनों ही आनन्दपूर्ण शिक्षा प्रदान करते हैं। सुःखान्तकी को हँसी प्रदान करना आवश्यक नहीं। यह तो एक प्रकार का दोष है। विदूषकों के ही कार्य से हँसी आती है इसीलिए प्राचीन तत्ववेत्ताओं ने हंसी को मूर्खता का चिन्ह कहा है। प्लेटो ने तो महाकवि होमर की बड़ी कड़ी आलोचना इसीलिए की है कि उन्होंने देव पात्रों को भी हँसने पर बाध्य किया है।"[2]

जॉन ड्राइडेन—"सुःखान्तकी तथा प्रहसन में बहुत भेद है। सुःखान्तकी के पात्र निम्न श्रेणी के होते हैं परन्तु उनकी प्रवृत्तियाँ, उनके साहसपूर्ण कार्य. उनके अन्य काम स्वाभाविक और यथार्थ जीवन के होते हैं। इसके विपरीत प्रहसनों के पात्रों की प्रवृत्तियाँ तथा उनके काम अस्वाभाविक तथा कृत्रिम होते हैं। सुःखान्तकी मनुष्य के दोष और अवगुण का चित्रण करते हैं, परन्तु प्रहसन जीवन के अत्यन्त बेढ़ंगे और मूर्खतापूर्ण कार्यों के प्रदर्शन से हमें हँसाते हैं। सुःखान्तकी

---

[1] वही

[2] जॉनसन—'डिसकवरीज़'

केवल बुद्धिमानों तथा समाज के सुधारकों को आनन्दित करते हैं परंतु प्रहसन केवल विचार हीन लोगों को जीवन की कृत्रिमताओं से प्रसन्न करते हैं। सुःखान्तकी को देखने में आनन्द आता है प्रहसनों को देखने में घृणा जाग्रत होती है। सुःखान्तक नाट्यकारों और प्रहसन लेखकों में वही भेद है जो एक कुशल चिकित्सक तथा एक नीम हकीम में होता है। दोनों ही रोगी को अच्छा करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु एक का प्रयत्न वैज्ञानिक ढ़ंग का है और दूसरे का जोखिम में डालना वाला होता है। अधिकतर यही देखा गया है कि कुशल चिकित्सक असफल रहते हैं और नीम हकीम सफल हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रहसन अधिक सरलता से दर्शकों को वशीभूत कर लेते हैं। सुःखान्तकी का मुख्य आभूषण परिहास-पूर्ण संवाद तथा व्यंगोक्तिपूर्ण कथोपकथन है।'[1]

डि० क्विन्सी—'समाज तथा सभ्यता के परिवर्तन के साथ साथ सुःखान्तकी की भी रूपरेखा बदलती जायगी क्योंकि उन पर समाज की पूर्ण छाया रहती है। ज्यों ज्यों मनुष्य का नागरिक जीवन शिष्ट तथा सभ्य होता जायगा नाटक भी अधिक गहराई तक पहुँचते जायँगे। बेढङ्गी घटनायें अथवा हास्यपूर्ण परिस्थितियाँ, अथवा पात्रों और घटनाओं के मिश्रण से जो चित्र सामने आयेंगे वे ही सुःखान्तकी के हास्य के मूल स्रोत होंगे।"[2]

बेन जानसन—'सुःखान्तकी, समाज तथा युग प्रतिबिम्ब प्रदर्शित करती है; उसमे मनुष्यों की मूर्खता तथा अनौचित्य का दर्शन है। जब कभी विशेष चरित्र-दोष किसी व्यक्ति में इतना बढ़ जाता है कि वह उसकी अन्य शक्तियों पर विजय पाकर उसे वशीभूत कर लेता है तभी

१—जॉन ड्राइडेन—'प्रेफेस टु ऐन ईवनिंग्स लव'

२—डि क्विन्सी—'थियरी आव लिटरेचर'

वह सुःखान्तकी का विषय बन जाता है।'[1]

टामस हाब्स— मनुष्य में एक विचित्र भावना विशेष है जिसका नामकरण नहीं हो सका है। इसका वाह्यरूप है हास्य। हास्य का जन्म आनन्द से होता है। हास्य का जन्म तभी होता है जब हम में यकायक दूसरों की या अपनी पहली कमज़ोरियों के विपरीत बड़प्पन तथा श्रेष्ठता का अनुभव होने लगता है। आकस्मिक नवीनता हास्य का प्राण है।[2]

मुलियर—सुःखान्तकी का मुख्य ध्येय आनन्द द्वारा शिक्षा प्रदान तथा सुधार है। सुःखान्तकी, व्यक्ति विशेष पर आधारित न होकर समाज विशेष अथवा वर्ग विशेष पर आधारित रहती है।'[3]

ड्राइडेन—'सुःखान्तकी के हास्य में द्वेष का भाव विशेष है। उसमें मनुष्य के अवगुणों का चित्रण आनन्द प्रदान के उद्देश्य से रहता है। शिक्षा अथवा सुधार की भावना उसमें प्रमुख रूप में न होकर गौण ही रहती है। सुःखान्तकी का कलाकार मानव के अवगुणों को उपहास्यास्पद बना कर हममें सौजन्यपूर्ण हंसी लाने का प्रयत्न करता है। जब दर्शक अपने सामने अवगुणों का उपहास देखते हैं तो उन्हें दूसरों पर हँसी आती है; तत्पश्चात् उससे बचने और सुधार की भावना का जन्म होता है।'[4]

टामस शैडवेल—'सुःखान्तकी के कलाकार का मुख्य ध्येय आनन्द प्रदान के साथ साथ शिक्षा प्रदान भी होना चाहिए। दुःखान्तकी के विपरीत हम सुःखान्तकी द्वारा अधिक समुचित रीति से सुधार की

१—बेन जानसन—'एवरी मैन आउट आव हिज़ ह्यूमर'

२—टामस हाब्स—'लेवायथन'

३—मुलियर—'टार्टफ़'

४—ड्राइडेन—'एसे आन ड्रैमैटिक पोयेज़ी'

भावना फैला सकते हैं।[1]

जोज़ेफ़ ऐडिसन—'साहित्यिकों ने प्रकृति के फल, फूल, पेड़, पक्षी के वर्णन में हास्य के विशेषण का रूपक रूप में प्रयोग किया है जिससे यह प्रमाणित होता है कि हास्य की भावना तथा उसका प्रदर्शन मनोहर तथा सौष्ठवपूर्ण है।'[2]

हेनरी फ़ील्डिङ्ग—'सुःखान्तकी के हास्य का आधार, मनुष्य का दिखावा, गर्व तथा पाखण्ड का उपहास है। जब हम किसी व्यक्ति का बनावटी व्यवहार देखते हैं तो हमें उस पर आश्चर्य होता है, तत्पश्चात् आनन्द मिलता है। पाखण्डी मनुष्य के बनावटी व्यवहार से हमें साधारणतया अधिक आश्चर्य होता है फलतः हमारे आनन्द की मात्रा भी अधिक होती है।'[3]

मार्क एकिनसाइड—'उपहास की तीव्र दृष्टि, जीवन की असमरूपता, असंगति तथा असंबद्धता को उपहास्यास्पद बना कर हास्य प्रस्तुत करती है। हमारी घृणा हमारे हास्य को और भी तीव्र करती है। हमारे हास्य की तीव्रता से ही मानव के अवगुणों तथा मूर्खताओं का शमन होता है।'[4]

आलिवर गोल्डस्मिथ—'आलोचकों ने सुःखान्तकी से निम्न वर्ग के चित्रण का बहिष्कार कर दिया है जिससे सुःखान्तकी रचना असम्भव हो गई है। जब किसी का उपहासपूर्ण वर्णन हम देखते हैं तो हममें श्रेष्ठता की भावना आती है। हास्य, इसी श्रेष्ठता की भावना

१—शैफ्टवेल—'प्रेफ़ेस टु ह्यूमरिस्टस

२—ऐडिसन—'स्पेकटेटर'

३—फ़ील्डिङ्ग—'टाम जोन्स'

४—एकेनसाइड—'प्लेज़र्स आव इमैजिनेशन'

का वाह्य प्रदर्शन है।'[1]

सैमुएल जानसन—'सुःखान्तकी की अब तक कोई सौष्ठवपूर्ण परिभाषा नहीं बन पड़ी है। प्रत्येक नाटकीय रचना जो हास्य प्रस्तुत करे सुःखान्तकी कही जा सकती है। परन्तु सुःखान्तकी रचना के लिए न तो हास्य अनिवार्य है, न निम्नवर्ग के जीवन का प्रदर्शन और न तुच्छ कथावस्तु।'[2]

लेसिङ्ग—'सुःखान्तकी सुधार कार्य में घृणायुक्त परिहास व्यवहार में ला कर, हास्य का प्रयोग करती है। हास्य में ही इसकी शक्ति निहित है। इसी हास्य द्वारा हम दूसरों के अवगुणों को परख लेते हैं। यह हास्य एक प्रकार का कवच है जो हमें अवगुणों से दूर रखता है। नैतिकता में भी शायद इतनी हमारे बचाव की शक्ति नहीं है जितनी कि हास्य में है।'[3]

जेम्स बियेटी—'स्वाभाविक हास्य दो प्रकार का होता है। एक तो दैहिक और दूसरा भावात्मक। पहला शरीर को गुदगुदाने में और दूसरा विचार-विन्यास मे प्रकट होता है। जीवन की किसी भी असंवद्ध तथा असंगत घटना अथवा विचार धारा अथवा मानसिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप हास्य प्रकट होता है। इस घटना, विचार धारा अथवा दृष्टिकोण में क्रोध, दया तथा घृणा का लेश नहीं रहता है। कई ऐसी भी उपहासपूर्ण घटनाएँ हो सकती हैं जो स्वयं हास्य प्रकट न कर किसी सिद्धान्त विशेष अथवा रूढ़ि विशेष की ओर संकेत करें जिससे सहज ही हास्य प्रकट हो जाय।'[4]

१—गोल्डस्मिथ—'पोलाइट लर्निङ्ग'

२—जानसन—'रैम्बलर'

३—लेसिङ्ग—'ड्रैमेटर्जी'

४—बियेटी—'एसे आन लाफ़्टर'

जोज़ेफ़ प्रीस्टली—'विरोधात्मक विचारों अथवा घटनाओं के प्रदर्शन द्वारा ही हास्य प्रकट होता है। जब कोई तीव्र भावना, अथवा आश्चर्यपूर्ण भाव एकाएक अवरुद्ध हो जाय अथवा उलट फिर कर बार बार आने लगे तभी हास्य का जन्म होता है। स्वभावतः हास्य तो किसी भी असंबद्धता अथवा असंगति द्वारा प्रकट होता रहता है, परन्तु इस असंबद्धता अथवा असंगति में गंभीरता का लेश नहीं होना चाहिए।'[1]

ह्यू ब्लेयर—'सुःखान्तकी के विषय, मनुष्य के भीषण कार्य अथवा घोर वेदनाएं न होकर केवल वे ही छोटे मोटे दुर्गुण होते हैं जो मानव चरित्र में रह कर, उसे सामाजिक रूप से दूषित कर हास्यास्पद बना देते हैं और जो दर्शकों को असंगत प्रतीत होते हैं। मनुष्य के आचार विचार का संशोधन, उसकी असामाजिकता का परिमार्जन तथा उसके सहज अवगुणों का उपहास संसार की श्रेष्ठ सेवा है।[2]

कोलरिज—'बीज रूप में, विचारों तथा उपमेयों के विरोधाभास में ही हास्य सन्निहित है। इसका उपयोग आश्चर्यान्वित करना है। प्रहसन में हमें हास्य इसी कारण मिलता है कि उसमें असंगत कार्यों का लेखा रहता है, परन्तु वे कार्य ऐसे नहीं होते जिनसे किसी को शारीरिक अथवा मानसिक क्षति पहुँचे। उसका ध्येय केवल हास्य ही प्रदर्शन है। सुःखान्तकी का आनन्द अन्दर से प्रस्फुटित होता है जब हमारी कुछ अस्थायी और सरल परन्तु पाशविक प्रवृतियाँ, हमारे मस्तिष्क पर छा जाती हैं तभी उनसे आनन्द का जन्म होता है।[3]

विलियम हैज़लिट—हास्य और रोदन का प्रस्फुटन तब होता है

१—जोज़ेफ़ प्रीस्टली—'ए कोर्स आव लेक्चर्स आन आरेट्री'

२—ह्यू ब्लेयर—'लेक्चर्स आन रेट्रिक'

३—कोलरिज—'लिटररी रिमेन्स'

जब हम यथार्थ और असाधारण भावों तथा विचारों में विरोध पाने लगते हैं। गंभीर कार्यों के सम्पादन में यदि अड़चनें आएँ अथवा हमारी सरल और सहज इच्छा के विरुद्ध कोई क्षतिपूर्ण कार्य हो जाए तो हम रो पड़ते हैं। हम केवल उन्हीं विषयों पर हंसते हैं जो महत्वहीन हों, अथवा जो हम सोचे विचारे बैठे हों उसके विपरीत कोई ऐसा कार्य हो जाय जिनका फल कष्टदायक न हो। जब हम यकायक कोई असंगत कार्य अथवा वस्तु देखते है तो हमें हंसी आ जाती है। इसका कारण यह है-कि जब तक हमारा मस्तिष्क उस असम्बद्धता को समझे समझे तब तक हम अट्टहास कर बैठते हैं। वास्तव में हास्य की भित्ति विचारों अथवा भावों की असंबद्धता ही है; हास्यास्पद वे ही वस्तुएँ हो सकती हैं जो साधारण नियमों के तथा हमारी बुद्धि के माप के अनुकूल न हों। जब विचार, भाव अथवा कार्य हमारी तर्क शक्ति और बुद्धि के सम्मुख असंगत रूप में आते हैं तभी वे हास्यास्पद बन जाते हैं।'[1]

स्तॉंदा—सुःखान्तकी केवल उन्हीं पात्रों की खोज में रहती है जो साफ़ हृदय के, स्पष्ट वक्ता, हंसमुख तथा करुणामय होते हैं। ये पात्र जीवन की पगदण्डियों को पकड़े हुए आनन्द की खोज में सहज भाव से निकल पड़ते हैं। जहा कहीं भी उन्हे यह आनन्द मिला वे उसी में अपने को भूल कर, घुल मिल जाते हैं।[2]

टामस कार्लाइल—हास्य की आत्मा में सारे जीवधारियों के प्रति सहज करुणा और सहानुभूति होनी चाहिए। यह आत्मा दयापूर्ण, सरल तथा सुकुमार होते हुए माँ की प्रेम-पूर्ण झिड़की के समान ही होती है। इस हास्य की आत्मा का पूर्ण-विकास तर्क अथवा मस्तिष्क

---

[1] विलियम हैज़लिट—'**ऑन विट ऐण्ड ह्यूमर**'

[2] स्तॉंदा—'**रेसीन एट शेक्सपियर**'

में न होकर हृदय में होता है। वह उपहास के कटु वाक्य नहीं निकालती और न उसमें भर्त्सना ही की कोई मात्रा रहती है। उसमें तो प्रेम और सहानुभूति के झरने झरते रहते हैं और इसका प्रकाश हास्य अथवा अट्टहास में न होकर सहज तथा सरल मुस्कान में ही होता है। यह फूल न होकर उसका पराग मात्र है। यह उसी स्वभाव में प्रगट होता है जिसमें शान्ति, सहानुभूति, मानवता की ज्योति रहती है। जब मानव-स्वभाव संसार के सभी असंगत अंगों से अपना मानसिक सामंजस्य स्थापित कर लेता है और उन असंगत रूपों के पीछे मानवता और सौन्दर्य का अनुभव करने लगता है तभी उसमें हास्य की सम्पूर्ण आत्मा का विकास होता है।'[1]

आर्थर शापेनहायर—'हमें हंसी तभी आती है जब हम किसी वस्तु और उसके मनोभाव में यकायक किसी असम्बद्धता अथवा असंगति देख लेते हैं। जिन जिन वस्तुओं से और जब जब हमें हंसी आती है, हम किसी विशेष वस्तु और वास्तविक मनोभाव में असंगति अवश्य देखते हैं।'[2]

ले हन्ट"—हमारे हास्य मे हमारी विजय-भावना निहित रहती है। जब हम कोई ऐसा असंगत दृश्य देखते हैं जिसके द्वारा हमें यह सन्तोष होता है कि हम उस दृश्य में अच्छा हुआ कोई पात्र नहीं थे तब हममें एक गर्व और विजय की भावना जाग उठती है। हम अपने को श्रेष्ठ, तथा साधारण मनुष्य से ऊँचा समझने लगते हैं। हम तब पूरी शक्ति से हंस पड़ते हैं। परन्तु इस विजयपूर्ण हंसी में किसी को न तो क्षति पहुँचनी चाहिए और न दुःख; यह हंसी तो हम केवल अपने को श्रेष्ठ तथा विजयी समझ कर ही हंसते हैं। हास तथा परि-

---

[1]टामस कार्लाइल—'एस्से आन रिक्टर'

[2]आर्थर शापेनहायर—'दि वर्ल्ड ऐज़ विल ऐण्ड आइडिया'

हास दोनो के प्रकाश में हमारी बुद्धि दूसरी असंगत वस्तुओं से होड़ लेती रहती है। जब जब हमारी श्रेष्ठता स्थापित होती है तब तब हमें हंसी आती है।

इसके अतिरिक्त जब कभी हम जीवन के असंम्बद्ध दृश्य अथवा असंगत विचार को यकायक सामने देखते हैं तो हास्य प्रस्तुत होता है। इस असम्बद्धता में च्युति की भावना न होकर एक सहानुभूति की भावना प्रगट होने लगती है जिसके साथ साथ हास्य का भी दर्शन होता है।'[1]

इमरसन—'सुःखान्तकी का आनन्द मस्तिष्क से सम्बन्धित है। जब हमारे अनुमान के प्रतिकूल, शृंखलाहीन अथवा असंगत संवाद अथवा कार्य होता है हमें आनन्द प्राप्त होता है। हंसी तो हमें तभी आती है जब आँखों से देखने और कानों से सुनने पर बात तो ठीक जंचे मगर वास्तव मे वह सत्यता यथार्थ से दूर हो।[2]'

जार्ज मेरिडिथ—'सुःखान्तकी की आत्मा सामाजिक जीवन से संबंधित है। उसमें सहानुभूति की मात्रा विशेष रूप में रहती है और वह वह हर समय चौकन्नी रहती है। जब कभी वह, समाज मे तथा मनुष्य के चरित्र से अनुचित गर्व, पाखण्ड, बनावट, अनौचित्य, दुःशीलता, छल, तर्क-विहीनता, अशिष्टता, अज्ञान, डींग, शेख़ी, मिथ्याभिमान, अस्थिरता, निर्लज्जता, चापलूसी, हठ-धर्म, अन्ध-विश्वास, असंयम, अनर्थकता, असंगति देखती है तो वह इस पर सहज रूप से छींटे कसती है जिसके पश्चात् स्वाभाविक रूप से हंसी फूट पड़ती है। सुःखान्तकी वास्तव में हमारे मानसिक हास्य की छाया है। वह भावनाएँ नहीं जाग्रत करती वह तो केवल एक नैतिक दृष्टि से संशो-

---

[1] ले हन्ट—'विट ऐण्ड ह्यूमर'

[2] इमरसन—'लेटर्स ऐण्ड सोशल एम्स'

धन और परिमार्जन का ही कार्य किया करती है।'[1]

थियोडोर लिप्स—'सुःखान्तकी में हमें उस वस्तु के हमेशा दर्शन होते हैं जो वास्तव में है तो छोटी, तुच्छ और क्षुद्र परन्तु वह अपनी रूपरेखा आडम्बरपूर्ण तथा विशाल बनाए हुए है। जब जब ये क्षुद्र और तुच्छ चीजे अपनी परिधि छोड़कर विशाल बनने की असफल चेष्टा करती हैं तभी हमे हंसी आती है। सुःखान्तकी में आनन्द प्रस्फुटन के दो महत्वपूर्ण स्थल होते हैं पहला तो जब यकायक इस असंगति को हम देखते हैं और दूसरा जब उसको ठीक परिमाण में समझ कर हंस बैठते हैं। हम यह सोच कर चले थे कि वास्तव में हमें काई महत्वपूर्ण और स्वाभाविक कार्य के दर्शन होंगे मगर अनुमान के प्रतिकूल हमें उसके स्थान पर दूसरी ही और छोटी वस्तु देखने को मिलती है।'[2]

हेनरी बर्गसॉ—(१) 'सुःखान्तकी का हास्य मनुष्य से संम्बधित है।

(२) इसका प्राण समाज में निहित है; कृत्रिमता, असंगति, हठधर्म की यह शत्रु है।

(३) इसमें भावनाओं की जागृति के बजाय मानसिक जागृति रहती है।

(४) इसके हास्य का ध्येय मनुष्य का दर्प दमन कर संशोधन तथा सुधार है। यह एक प्रकार से समाज के विरुद्ध चलने वाले से प्रति-शोध लेती है।

(५) इसका उद्देश्य क्षति न पहुँचा कर केवल ऐसे छींटे कसना है जिससे सहज ही में आनन्द आए।'

डब्ल्यू० मैकडूगल—'हास्य प्रदर्शन के लिए ऐसी परिस्थिति आव-

---

१. जार्ज मेरिडिथ—'थियरी आव कामेडी'

२. थियोडोर लिप्स—'कामिक ऐण्ड ह्यूमर'

श्यक है जो थोड़ी बहुत उलझनें पैदा करे तत्पश्चात् हममें सहानुभूति जगाए। हास्य हमारे जीवन में ढाल का काम करती है, जब जब हम मानव-समाज की कमज़ोरियों से क्षुभित होने लगते हैं उसी समय हास्य हमको समझा बुझाकर सन्तोष दे देता है।'

४

चतुर्थ खण्ड

मिश्रित की

१

मिश्रितांकी की समस्या

दुःखान्तकी तथा सुःखान्तकी की निर्माण शैली के सम्पर्क में यह प्रश्न साधारणतः उठता है कि इन दोनों प्रकार के नाटकों में केवल अलग अलग रस का परिपाक हो अथवा दोनों के दृश्यों में सम्मिश्रण होना चाहिए। प्राचीन यूनानी आलोचक दुःखान्तकी रचना में केवल एक ही रस का परिपाक चाहते हैं। उनके सिद्धान्तों के अनुसार श्रेष्ठ दुःखान्तकी वही है जिसमें शुरू से आख़ीर तक एक ही रस का परिपाक तथा एक ही भावना की पुष्टि हो। करुण तथा भय के माध्यम से मानव के चरित्र का संशोधन उनका मुख्य ध्येय था। रोमीय दुःखान्तकीयों मे भी यही सिद्धान्त मान्य रहा और यूनानी लेखक यूरिपाइडीज़ तथा साफोक्लीज़ के नाट्य सिद्धातों के अनुसार रोमीय लेखकों ने दुःखान्तकी की रचना की जिसमें हत्याकाण्ड ही विशेष रूप से प्रदर्शित हैं। इन लेखकों ने दुःखान्तकी के वस्तु, उसकी प्रगति, तथा उसके आपदकाल में करुणा रस के प्रसार के लिए केवल दुःखपूर्ण परिस्थिति, दुःखपूर्ण पात्र तथा दुःखपूर्ण वातावरण निर्माण कर अपने ध्येय की पूर्त्ति की। रोमोय नाटकों में तो भय की इतनी अधिक मात्रा है कि कहीं कहीं करुणा के स्थान पर वीभत्स ही अधिक दिखलाई देता है।

मिश्रिताकी समस्या के दो पहलू ध्यान देने योग्य हैं पहला तो है अंकों तथा गर्भांकों के संजोने में और दूसरा है साधारण वातावरण से संबंधित। मिश्रित रूप से अकों को संजोने का प्रश्न न तो यूनानी

और न रोमीय नाटकों में ही उठता है। संस्कृत नाटकों के अंक-सृजन में भी यह प्रश्न नहीं उठता, वह उठता है उनके वातावरण के संबंध में। परन्तु अंग्रेज़ी नाटकों में विशेषतः दुःखान्तकी रचना में यह प्रश्न बहुत जटिल रूप से सामने आता है। संस्कृत तथा अंग्रेज़ी सुःखान्तकीयों के वातावरण में विचित्र साम्य है। भवभूति ने करुण रस का परिपाक ही श्रेष्ठ कला माना है और शेक्सपियर के सुःखान्तकीयों में भी इसी रस का समुचित रूप से परिपाक हुआ है। संस्कृत साहित्य के 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'उत्तर रामचरित', तथा 'मुद्राराक्षस' में और शेक्सपियर विरचित 'टवेल्फथ नाइट', 'टेम्पेस्ट' तथा 'सिम्बेलीन' में वातावरण की दृष्टि से बहुत अधिक साम्य है। शेक्सपियर के सुःखान्तकी आरंभ से ही करुण परिस्थिति लिए अवतरित होते हैं। कभी तो यह परिस्थिति इतनी करुणापूर्ण होती है कि पाठक को यह डर लगा रहता है कि सुःखान्तकी कहीं दुःखान्तकी में परिणत न हो जाय। इस वातावरण के अन्तर्गत हम कहीं मैत्री की दुर्दशा, कहीं भविष्य के प्रति घोर आशंका, कभी प्रेम का तिरस्कार कभी भ्रातृ-भाव के विपरीत भ्रातृ-वैमनस्व तथा हत्या की तैयारी और कहीं सती स्त्री की अवहेला देखते हैं। नाटक के मध्यांकी में कारुण्य का संचार इतने तीव्र गति से होता है कि हम कभी कभी हताश हो उठते हैं। परन्तु पटाक्षेप होते होते दुर्भाग्य, हठ धर्मी, विछोह, तथा घृणा के बादल फटने लगते हैं और सौभाग्य सूर्य की रश्मिया सम्पूर्ण वातावरण को अनुरंजित कर सफलता, शान्ति तथा हर्ष का इन्द्र-धनुष आकाश में तान देती हैं।

संस्कृत नाटकों में यद्यपि दुःखान्तकी नहीं है फिर भी सुःखान्तकीयों के अध्ययन में यह समस्या पूर्णतयः प्रस्तुत है। वातावरण की दृष्टि से, यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय, तो इन सुःखान्तकीयों को मिश्रितांकी नाम देना ही अधिक उचित जान पड़ेगा। संस्कृत के सभी सुःखान्तकी मंगला चरण से आरंभ होते हैं और उनका अन्त भी मंगला चरण से

ही होता है। यद्यपि अंग्रेज़ी के सुःखान्तकी मगलाचरण से आरम्भ तो नहीं होते मगर उनका अन्त मंगलाचरण से अवश्य होता है। परन्तु मंगलाचरण के साथ अन्त होने का यहा तात्पर्य यह नही है कि उसमें किसी देवता विशेष की प्रार्थना कर उनका आर्शीवाद लिया जाय परन्तु सुख, हर्ष और शान्ति का प्रसार भी मगलाचरण का ही भावुक-रूप है।

सुःखान्तकी में हर्ष के साथ साथ कारुण्य की छाया लाना अथवा एक ही रस का पूर्ण-परिपाक नाटकीय दृष्टि से तथा मनोवैज्ञानिक रूप से कहा तक ठीक है इसका निश्चय हमे नाटकों के प्रभाव के आधार पर ही करना होगा। नाटकीय दृष्टि से मिश्रितांकी के सिद्धान्त की पुष्टि इसलिए होती है कि समस्त मानव-समाज का प्रतिबिम्ब नाटक मे प्रस्तुत होना चाहिए। इसी प्रतिबिम्ब की वास्तविकता से नाटक की श्रेष्ठता तथा उसकी व्यापकता का माप होता है। यदि नाटक जीवन का सम्पूर्ण चित्र नहीं प्रस्तुत करता तो वह नाटक श्रेष्ठ नही। केवल जीवन के दो एक स्थलों को लेकर जीवन का एकागी चित्र खींच देने मे ही नाटक की सफलता नहीं प्रमाणित होती। उसमें केवल जीवन के सुःखपूर्ण अथवा हर्षपूर्ण स्थलों को ही लाकर रखने मे हमें जीवन का भ्रमपूर्ण चित्र मिलेगा और हमें उस पर विश्वास न होगा क्योंकि हम सम्पूर्ण जीवन में उस चित्र की सत्यता नहीं पाएगे। इस प्रकार की ग़लती कुछ घोर आशावादी[1] कलाकार कर सकते हैं। जीवन की सफलता, उसका आनन्द तथा उसका हर्ष प्रदर्शित करने की धुन में वे कुछ ऐसे चुने हुए दृश्य ही प्रस्तुत करते हैं जिनको देखने के पश्चात् हमें यह भ्रम होने लगता है कि जीवन क्या वास्तव में इतना ही आनन्द-मय तथा हर्षपूर्ण है जितना कि नाट्यकार ने प्रस्तुत

---

[1] देखिए-'काव्य की परख'

किया है ? जीवन में तो हमें क़दम क़दम पर कठिनाइयों, दुःख तथा निराशा के बादल मंडराते हुए दिखलाई देते हैं।

इसके विपरीत कुछ नाट्यकार जीवन के केवल दुःखपूर्ण, पीड़ामय तथा करुण स्थल चुनकर नाटक में प्रस्तुत करते हैं और हर्षपूर्ण स्थलों को जानबूझ कर निकाल फेंकते हैं। इस प्रकार के नाटकों में भी हमें जीवन के सम्पूर्ण चित्र के बजाय एकांगी चित्र मिलता है। उसके देखने के पश्चात् हमारे मन में यह प्रश्न उठता है कि जीवन क्या वास्तव में इतना ही दुःख-पूर्ण तथा पीड़ामय है अथवा उसमें हर्ष और आनन्द भी है। क्योंकि जब हम जीवन के विराट साम्राज्य पर दृष्टि डालते हैं तो कहीं बालक वृन्द किलोलें करता है, कहीं युवा युवती प्रेम पाश में बंधते दिखलाई देते हैं और कहीं वृद्ध अपनी भूरी आखों में मुस्कान लिए इस हर्षपूर्ण संसार को देखते फिरते हैं। केवल दुःख-पूर्ण स्थलों से नाटक निर्माण में हमें नाट्यकार की प्रतिभा पर सन्देह होने लगता है। हमें यह ज्ञात होता है कि निराशावाद के प्रसार की धुन में वह जीवन की सत्यता को न देख कर केवल उसके एक ही अंग पर प्रकाश डाल रहा है। सम्पूर्ण रूप से दुःखान्तक तथा सुःखान्तक शैली में लिखे गए नाटकों में हमें जीवन का वास्तविक, यथार्थपूर्ण तथा प्रतीतिजनक चित्र न मिल सकेगा। इस नाटकीय दोष को हम एकांगी दोष कह सकते हैं और जब तक कलाकार आशावाद अथवा निराशावाद का चश्मा लगाए रहेगा तब तक उसे जीवन का सम्पूर्ण चित्र नहीं मिलेगा।

कलाकार जब तटस्थ होकर जीवन को देखता है तभी उसे जीवन का सम्पूर्ण चित्र दिखलाई है। इस दृष्टि से उसे जीवन सुख तथा दुःख दोनों से संलिप्त दिखलाई देगा। कभी वह बालकों की हर्षपूर्ण क्रीड़ाएँ देखेगा, कभी संगीत की मधुर ध्वनि सुनेगा, कभी प्रभात का स्पर्श उसे आन्दोलित करेगा, कभी स्वर्णिम सन्ध्या में उसे प्रेम-

संगीत की रागिनियों का आवाहन मिलेगा। इसके विपरीत कभी उसे बालकों की अनायास मृत्यु, युवाओं तथा स्त्रियों का करुण क्रन्दन तथा भाग्य चक्र की विषमता के दुःखदैन्यपूर्ण जीवन का भी चित्र मिलेगा। उसे जीवन चक्र में पड़े हुए मानव का कभी हास कभी क्रन्दन, कभी हर्ष कभी पीड़ा, कभी सन्तोष कभी विद्रोह दिखलाई देगा। इसी मिश्रित जीवन को पूर्ण-रूप से प्रदर्शित करने में ही कलाकार की श्रेष्ठता प्रमाणित होगी।

तटस्थ-रूप से मिश्रित जीवन की झाकी दिखलाने मे भी लेखक को स्वाभाविक रूप से कोई न कोई दृष्टिकोण अथवा कोई न कोई दार्शनिक विचार आधार रूप से अपनाना पड़ेगा। अपनी रुचि, अपने स्वभाव, अपने धर्म, अपने संस्कार तथा विश्वास का सहारा मात्र लेते हुए उसे जीवन के उन अटल सत्यों का निरूपण करना पड़ेगा जो आदिकाल से, समय पर विजय पाते हुए, आज तक विद्यमान हैं। ये सत्य कौन हैं, उनकी भित्ति क्या है, उनकी सीमाएं क्या है, उनका विस्तार क्या है, इसका निर्णय कलाकार की निजी अनुभूति तथा जीवन के सफल निरीक्षण द्वारा ही हो सकेगा। यदि लेखक की निजी अनुभूति अत्यन्त कटुता पूर्ण है और जीवन मे क्रन्दन के सिवाय उसे कुछ और नहीं मिला तो उसे अपनी इस कटु अनुभूति तथा जीवन के अटल सत्यों का सहारा ले उसमें साम्य उपस्थित करना पड़ेगा। वैषम्य-पूर्ण जीवन का एकागी चित्रण जीवन की असत्य भावनाओं का प्रसार करना है। उदाहरण के लिए कला-कार एक कटु दृश्य चुनता है। यह दृश्य है उस बुड्ढी भिखारिन-के चिथड़े से लिपटे हुए शरीर तथा उसके पास सोया हुआ दीन हीन बालक का जिसके मुंह पर मक्खियाँ भिनभिना रही हैं और भिखारिन भूख की ज्वाला तथा ग्रीष्म के ताप से विह्वल हो रही है। इस चित्र को देखते ही कलाकार के मन में द्वन्द्व उपस्थित होता है

और वह द्वन्द्व होता है जीवन के इस यथार्थ दृश्य तथा उस अटल सत्य में जो अनादि काल से चले आ रहे हैं। यदि इस द्वन्द्व में लेखक ने केवल यथार्थ दृश्य को ही सत्य मानकर, उन अलिखित अटल सत्यों की ओर से मुंह फेर कर नाटक लिखा तो उसमे अमरता के तत्व नहीं के बराबर रहेंगे। यदि उसने इस यथार्थ दृश्य से ऊपर उठकर उन अटल सत्यों से उसका साम्य उपस्थित करने की चेष्टा की तो उसकी कला श्रेष्ठता की ओर अग्रसर होगी। द्वन्द्व मे अटल सत्यों के विजय की पताका फहराने मे ही कला की श्रेष्ठता मानी गई है। यदि बुड्ढी भिखारिन तथा दीन हीन बालक का क्षुभित जीवन एक अटल सत्य मान लिया जाय तो हर्षपूर्ण बालक, प्रेमाभिसिक्त दम्पति, आनन्द पूर्ण वसन्तोत्सव क्या अटल सत्य नहीं? यदि दोनों अटल सत्य हैं तो मिश्रिताकी की महत् आवश्यकता है। यदि इनमें से केवल कोई एक ही सत्य जान पड़ता हैं तो उसमे कलाकार की रुचि अधिक है और जीवन की वास्तविकता कम या नही के बराबर।

इसी सिद्धान्त के विरुद्ध, यदि 'उत्तर राम चरित' तथा 'शाकुन्तल' और 'टवेल्फथ नाइट' तथा 'सिम्बेलीन' में केवल सुख ही सुख का प्रदर्शन रहता और दुःख की छाया भी कहीं दिखलाई न पड़ती तो उनमें भी हमे जीवन का सम्पूर्ण चित्र नहीं मिलता। परन्तु ऐसा न होकर इन चारों नाटकों मे सुख दुख, हर्ष-विषाद तथा आनन्द और पीड़ा सबका सम्यक निरूपण है। इन श्रेष्ठ नाटकों के श्रेष्ठ नाट्य-कारों ने अपनी रुचि, अपने विश्वास, अपने संस्कारों का सहारा मात्र लेते हुए कुछ अटल सत्यों की अमरता घोषित की है। परन्तु ये अटल तथा अलिखित सत्य हैं क्या?

संसार मे, मानव के अवतरण के दिन से लेकर आज तक ही नहीं बल्कि जब तक मानव इस संसार में रहेगा, कुछ अटल सत्यों के दर्शन होते आए हैं और होते रहेंगे। इस संबंध में ईसाई धर्म

की एक पौराणिक गाथा उल्लेखनीय है। कहा जाता है कि जब ईश्वर ने आदि पुरुष आदम का निर्माण किया और उसे ईडन की वाटिका में रहने का आदेश दिया तो कुछ दिनों बाद आदम ईश्वर के पास मुंह बनाए हुए आए और कहा—'हे परम पिता ! इस वाटिका में मेरा जी नहीं लगता, मैं उदास रहता हूँ। मुझे कोई साथी दीजिए ?' ईश्वर ने प्रार्थना स्वीकार कर ली और आदम के वक्षस्थल से एक छोटी सी हड्डी निकाल कर आदि नारी, हौआ का निर्माण कर आदम के हवाले किया। आदम ख़ुशी ख़ुशी वाटिका में आए और उनके दिन हंसी ख़ुशी में बीतने लगे। मगर कुछ दिनो बाद हौआ ने उनको सताना शुरू किया और वे इतने क्रुद्ध हुए कि उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे ईश्वर के पास जाएंगे और हौआ उनको वापस दे देंगे। अपना निश्चय उन्होंने दूसरे दिन ही पूरा कर दिखाया और वे ईश्वर के पास जा पहुँचे और विवश हो कहा—'परमेश्वर ! हौआ को वापस लीजिए, मै इसके साथ एक क्षण भी नहीं रह सकता ?' परमेश्वर ने ख़ुशी ख़ुशी हौआ को वापस ले लिया और आदम अपने सर का बोझ उतार कर ईडन वाटिका आए। मगर आते ही उन्हें जीवन का सूनापन काटने लगा, उन्होंने लाख मन को समझाया, ऊँच नीच सुझाया मगर सूनापन बढ़ता ही जाता था। उन्होंने हार मान कर हौआ को ईश्वर से वापस लाने का निश्चय किया। वे ईश्वर के यहाँ फिर पहुँचे और प्रार्थना की—'हे ईश्वर ! मुझे हौआ को लौटा दीजिए, मैं उसके बिना मालूम होता है नही रह सकता, मुझे जीवन का एकाकीपन काटे खाता है'। ईश्वर मुस्कुराए और हौआ को आदम के हवाले किया। मगर कुछ ही दिन बीतने पाए थे कि वही पुराना झगड़ा फिर चला, हौआ ने उन्हें फिर सताना शुरू किया। आदम ने बहुत चाहा कि झगड़ा निबट जाय, मगर यह कहां होने का ? आदम ने हौआ को हमेशा

के लिए ईश्वर के हास छोड़ आने का दृढ़ निश्चय किया और इसी निश्चय के अनुसार वे हौआ को लेकर ईश्वर के पास पहुँचे और हाथ जोड़ कर प्रार्थना की—'हे देव! हमारी प्रार्थना मानी जाय, आप हौआ को वापस लें लें, इसके साथ जीवनयापन असंभव है'। ईश्वर बड़े ज़ोर से हँसे और चुपचाप उन्होंने हौआ को वापस ले लिया। आदम ख़ुशी ख़ुशी अपनी वाटिका में वापस आ पहुँचे और सोचा चलो अच्छा हुआ छुटकारा मिला। मगर कुछ दिन बाद फिर वही पुरानी हालत। हर जगह उन्हें हौआ की तस्वीर दिखलाई देती, उसकी सुधि उन्हें बार बार आती और वे उसके बिना बेकल रहने लगे। उसका मुख, उसकी भाव भगी, उसके हाव भाव उन्हें रह रह कर बेकल करने लगे। उन्होंने अपने को बहुत समझाया मगर मन कहाँ समझना वह तो उनके क़ाबू के बाहर था; उन्होंने निश्चय कर लिया था कि इस बार वे हौआ का मुंह भी न देखेंगे; मगर उसकी शकल तो हर जगह जैसे चित्रित दिखलाई देती थी। उनका मन उनका नहीं रहा। उन्होंने आख़िरी बार यही निश्चय किया कि चलकर हौआ को ले ही आना चाहिए। मन मारे वे फिर ईश्वर के यहाँ जा पहुँचे और नत मस्तक हो कहा—'देव! हमें हमारी हौआ वापस मिल जाय'! ईश्वर यह प्रार्थना सुन कर बहुत क्रोधित हुए और आदम को हौआ लौटाकर कहा—'ख़बरदार! अब फिर तुम कभी इसे वापस करने आए तो तुम्हारी ख़ैरियत नहीं'। आदम, भाग्य तथा दैवी आदेश और हौआ तीनो को साथ लाए और फिर कभी ईश्वर के यहाँ न गए।

इस पौराणिक गाथा मे एक अटल सत्य का दिग्दर्शन होता है। आदम और हौआ—आकर्षण, स्नेह, तथा ममता के प्रतीक हैं। ईश्वर अथवा नियति के आदेशानुसार अब तक स्त्री तथा पुरुष आकर्षण, स्नेह तथा ममता के झूले में झूलते आए हैं। आदम की

पहली शिकायत पर ईश्वर केवल मुस्कुराए थे। उनकी मुस्कुराहट में मानव की इच्छा के प्रति सहानुभूति थी, वे आदम की सरलता तथा जीवन की अनभिज्ञता पर मुस्कुराए। दूसरी बार वे बड़े जोर से हसे थे। उनके अट्टहास में मानव के अज्ञान के प्रति गहरी सहानुभूति थी। तीसरी बार उनका क्रोध आदेश में परिणत होकर जीवन का एक अमिट सत्य बन कर रह गया : यह सत्य है वही प्रेम, आकर्षण तथा लालसा। यह सत्य साहित्य, समाज, सभ्यता तथा संस्कृति की सीमाएँ तोड़ता हुआ आदि काल से आज तक जीवन में प्रस्तुत है। ये अमिट हैं, अटल हैं, अलिखित हैं।

जीवन के अन्य सत्यों का दिग्दर्शन बुद्ध-धर्म की लोक गाथाओं में सरलता से होता है। कहा जाता है कि एक बुढी स्त्री अपने इकलौते बेटे का मृत शरीर लिए गौतम के मठ मे आई और उनसे अपने बेटे को जीवन दान देने की भिक्षा रो रो कर मागनें लगी। गौतम ने वृद्धा को बहुत आश्वासन दिया और जीवनदान देने की प्रतिज्ञा की। मगर अपनी प्रतिज्ञा के साथ उन्होंने एक छोटी सी शर्त्त भी रखी। उन्होंने वृद्धा से आग्रह किया कि वह जाकर नगर के किसी भी घर से मुट्ठी भर सरसों के दाने माँग लावे और वे बालक को जीवनदान दे देंगे। वृद्धा आशा की अधीरता में उठी और चली। उसके जाते जाते गौतम ने कहा 'वृद्धा, दाने उसी घर से लाना जहाँ पर किसी की मृत्यु न हुई हो।' वृद्धा आकाक्षा तथा आशा की डोर पकड़े घर घर घूमने लगी। उसे मुट्ठी भर सरसों सबने बड़ी ख़ुशी से दिया मगर उसके पूछने पर कि घर में किसी की मृत्यु तो नहीं हुई सबने अपने अपने दुखड़े रोने शुरू किए। किसी ने अपने पिता, किसी ने माता, तथा किसी ने अपने बालक की अकाल मृत्यु की कहानी कही। वृद्धा हताश न हुई, वह धैर्य से नगर के हर घर मे गई मगर हतभाग्य वृद्धा को सबने निजी दुखड़े सुनाए। वृद्धा ख़ाली हाथ तथागत के पास

आई और कहा—'महाभाग ! सरसों तो मुझे बहुत मिला मगर ऐसा घर कोई न मिला जहाँ पर किसी न किसी की मृत्यु न हुई हो।' गौतम ने जीवन की अनित्यता, ईश्वर की शक्ति तथा जीवन-हित के अमोघ अस्त्र धैर्य पर प्रवचन दिया। मृत्यु, धैर्य तथा ईश्वरीय नियमों की शक्ति मानव जीवन के अमिट सत्य हैं।

महाभारत में जब युधिष्ठिर पाठशाला पहले पहल गए तो उन्हें गुरु ने पाठ पढ़ाया-'क्रोध पर विजय सच्ची मानवता है।' बालक युधिष्ठिर ने पाठ हृदयांकित कर लिया। दूसरे दिन वे अपनी पोथी के एक भी पाठ याद करके न ले गए। शिक्षक बहुत क्रुद्ध हुए। उन्होंने युधिष्ठिर की ख़ूब पूजा की और उन्हें इतनी मार मारी कि जिसका वर्णन नहीं मगर बालक युधिष्ठिर मुस्कुराता रहा; गुरु और भी क्रोधित हुए और अपनी मार फिर दुहराई मगर युधिष्ठिर फिर भी हंसते रहे। गुरु ने हताश होकर शिष्य से पूछा-'युधिष्ठिर तुमने इतनी मार खाई और तुम्हें ज़रा भी दुःख नहीं। प्रतिज्ञा करो कि आगे सब पाठ याद करके ही पाठशाला आओगे ?' युधिष्ठिर ने कहा-'गुरुवर। मै अभी तक आपकी पहली शिक्षा को याद कर रहा था-'क्रोध पर विजय सच्ची मानवता है।' 'मैंने आज यह पाठ पूरी तरह याद कर लिया। गुरु नत मस्तक हुए और बालक को हृदय से लगा लिया।' क्षमा और शान्ति जीवन के अटल सत्य हैं।

यदि नाट्यकार प्रेम, आकर्षण, लालसा, मरण, धैर्य, श्रद्धा तथा क्षमा और शान्ति के अटल सत्य अपने नाटकों में प्रदर्शित कर सके तो उसकी महत्ता बनी रहेगी। ये सत्य हमें जीवन के पग पग पर दिखलाई देते हैं। इन्हीं के सहारे जीवन, जीवन बनता है। इन्हीं की मर्यादा की रक्षा में जीवन की सार्थकता है। बिना इनके जीवन नीरस शुष्क तथा उथला रहता है। प्रेम जीवन की नौका है, आकर्षण तथा लालसा उसके पतवार हैं क्षमा श्रद्धा, तथा शान्ति उसका निर्दिष्ट

स्थान है।

निष्कर्ष-रूप में हम यह कह सकते हैं कि यदि नाटक के वातावरण में सुख, दुख; हर्ष, विषाद, श्रद्धा, विद्रोह; क्रोध तथा क्षमा का प्रसार है तो नाटक जीवन के समीप है और जीवन उसमे पूर्णतयः प्रतिविम्बित है। जीवन के सम्पूर्ण प्रतिविम्ब में ही नाटक का महत्व है; उसकी सफलता है, उसकी श्रेष्ठता है।

२

मिश्रितांकी की कला

मिश्रितांकी की कला का प्रश्न, नाटकों के अंकों तथा गर्भांकों के सृजन तथा उनके सामंजस्य में उठता है। वातावरण की दृष्टि से हम मिश्रिताकी की श्रेष्ठता पर विचार कर चुके हैं; परन्तु देखना यह है कि मिश्रिताकी के अंक-सृजन में यह शैली कहां तक वांच्छित है। यदि हम शेक्सपियर लिखित दुःखान्तकीयों का अध्ययन करे तो हमें यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि उन्होंने सभी श्रेष्ठ दुःखान्तकीयों के अंकों के बीच में किसी न किसी प्रहसनात्मक दृश्य का समावेश कर दिया है। इन प्रहसनात्मक दृश्यों में हम निर्मम हास्य तथा निम्न कोटि के मनुष्यों का भद्दा तथा अशिष्ट संवाद सुनते हैं। शेक्सपियर की कला से अनभिज्ञ आलोचकों ने इन दृश्यों तथा अंकों को किसी अन्य लेखक की कृति प्रमाणित करने की चेष्टा में अनेक प्रमाण इकट्ठे किए हैं। परन्तु श्रेष्ठ आलोचक जो शेक्सपियर की विशाल नाट्य-प्रतिभा से परिचित थे इस शैली को नाट्यकार की प्रतिभा तथा जीवनाध्ययन के अनुकूल समझते हैं। फिर भी मिश्रितांकी की कला पर दो विभिन्न मत नाट्य-साहित्य की आलोचना मे दृष्टिगोचर

होते हैं।

कुछ आलोचकों का मत है कि दुःखान्तकी की रचना में किसी भी प्रहसनात्मक दृश्य का प्रदर्शन साहित्यिक दृष्टि से भद्दा तथा नाटकीय दृष्टि से नितान्त असंगत है। इन लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि इस प्रकार के मिश्रित अंकों के फल-स्वरूप जो नाटक लिखा जाएगा वह साहित्य न होकर कोई ऐसी राक्षसी वस्तु होगी जिसके अध्ययन से मानव समाज रसातल की ओर प्रस्थान करेगा। मिश्रितांकी के विरोधी और विपक्षी सैद्धान्तिक रूप से इसका विरोध करते हैं। उनका कथन है कि इस प्रकार के अंकों के सम्मिश्रण से न तो भय की उत्पत्ति होती है न करुणा की; और बिना इन दोनों भावनाओं के उत्कर्ष के दुःखान्तकी अपने ध्येय की पूर्त्ति नहीं कर सकती। भय और करुणा के उत्कर्ष में ही दुःखान्तकी की सफलता है अन्यथा नहीं।[1]

इस धारणा के साथ साथ विपक्षी दल का यह भी कथन हैं कि यदि मिश्रितांकी मे दोनों तरह के अंक अथवा गर्भांक साथ साथ रहेंगे तो दोनों एक दूसरे के प्रभाव का प्रतिकार करते रहेंगे। उनका यह विचार हैं कि यदि नाट्यकार दुःखान्तक दृश्य के वाद कोई प्रहसनात्मक दृश्य उपस्थित करेगा तो दुःखान्तक दृश्य का न तो कोई समुचित प्रभाव दर्शकों पर पड़ेगा और न करुण रस का ही सम्पूर्ण परिपाक हो पाएगा। दर्शकों को यह प्रतीत होगा कि वे ज़बरदस्ती करुणा जगत से उठा कर एक हास्यपूर्ण जगत में डाल दिए गए हैं। दुःखान्तक दृश्य देखते देखते दर्शकों की स्वाभाविक इच्छा यह रहती है कि दुःखान्तकी का अन्त शीघ्रातिशीघ्र ज्ञात हो जाय और वे जान लें कि नाटक के अन्त में नायक की क्या गति हुई। दर्शक वृन्द

---

[1] देखिए—'दुःखान्तकी' खण्ड

नायक की प्रगति दुःखान्तक पथ पर देखते रहते हैं और जब इस प्रगति में वाधा पड़ती है तो दर्शकों को क्रोध आता है और उनकी करुण भावना प्रहसन की चोट से हताहत हो जाती है। वे समझने लगते हैं कि नाट्यकार ने सम्पूर्ण प्रभाव का प्रतिकार कर दिया।

मिश्रितांकी के समर्थक उपरोक्त सिद्धान्तों से बिलकुल सहमत नहीं हैं। हास्य द्वारा करुण रस के प्रतिकार के संबंध मे उनके सिद्धान्त बिलकुल भिन्न हैं। उनके सिद्धान्तों के अनुसार यदि नाट्यकार दुःखान्तक दृश्यों के बाद प्रहसनात्मक दृश्य प्रस्तुत करता है तो बजाय इसके कि करुण भावना का प्रतिकार हो, करुण-भावना और भी गहरी हो जाती है और उसका प्रभाव दर्शकों पर तीव्र रूप से पड़ता है। मिश्रिताकी के समर्थकों की यह धारणा है कि दो विरोधी रसों के साथ साथ परिपाक से दोनों रसों की पूर्ण और हृदयग्राही व्यजना होती है। उदाहरण के लिए यदि नाट्यकार पीड़ायुक्त, दुःख-पूर्ण तथा भयावह दृश्य उपस्थित करने के बाद हास्य तथा विनोद का दृश्य प्रस्तुत करता है तो इन दोनों रसों के विरोधाभास के कारण, दोनों का प्रभाव बहुत आकर्षक तथा हृदयग्राही हो जाता है। जिस प्रकार घोर अंधकार से निकलने पर हमें थोड़ा सा प्रकाश भी भला मालूम होता है और वह प्रकाश हमें लुभा लेता है, उसी प्रकार पीड़ायुक्त दृश्यों के प्रदर्शन के बाद प्रहसनात्मक दृश्यों का प्रदर्शन अत्यन्त मनोहर तथा चित्ताकर्षक होता है। इसके साथ साथ यह भी मनोवैज्ञानिक सत्य है कि केवल एक ही रस के परिपाक से दर्शक-वृन्द ऊब उठता है, खीझ जाता है तथा हताश हो जाता है; और इस प्रकार की भावना से नाटक के मुख्य उद्देश्य की पूर्त्ति नही होती। नाटकों का मुख्य उद्देश्य है आनन्द-प्रदान और विरोधी रसों के परिपाक से ही आनन्द की सृष्टि होती है अन्यथा नहीं। इसमें तो कदाचित सन्देह नही कि यदि बहुत देर तक नाट्यकार करुणा का

ही संचार दर्शकों में करता रहा तो संभव है वे विह्वल हो जायं और जीवन की आनन्दपूर्ण शक्तियों की ओर से विमुख हो जायं अथवा साहस खो बैठें। दुःखान्तक दृश्य देखने के पश्चात जब हास्य-पूर्ण दृश्य देखने को मिलते हैं तो दर्शकों की अनुभूति गहरी, उनका आनन्द दुगना तथा जीवन के प्रति उनका विश्वास दृढ़ हो जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन आलोचकों के सिद्धान्तों में मिश्रितांकी रचना, अंक सृजन की दृष्टि से, वर्जित है। कदाचित इस सिद्धान्त के बनाने मे उस समय का सामाजिक वातावरण तथा लेखकों की प्रतिभा का विशेष ध्यान रखा गया होगा। जैसा कि हम दुःखान्तकी खण्ड मे देख चुके हैं, भय और करुणा का प्रसार ही आलोचकों का प्रमुख ध्येय था जिसके द्वारा वे जीवन का परिमार्जन चाहते थे। उन आलोचकों के सीमित मनोवैज्ञानिक ज्ञान ने कदाचित इस बात की कल्पना भी न की होगी कि मानव अनुभूति, भावनाओं के विरोधाभास द्वारा और भी गहरी तथा आकर्षक बनाई जा सकती है। अपने इस सीमित ज्ञान के फल-स्वरूप ही आलोचकों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया होगा। श्रेष्ठ कलाकारों की कमी भी कदाचित इस सिद्धान्त के पीछे रही हो। किसी भी नाटक में केवल एक ही रस का परिपाक अत्यन्त सरल होता है परन्तु एक ही नाटक में स्वाभाविक रूप से एक से अधिक रसों का परिपाक केवल श्रेष्ठ ही कलाकार कर सकते हैं। यह तो केवल वही कलाकार कर सकता है जिसने जीवन के अनगिनत स्थलों तथा अनेक स्तरों के अनुभव को अपने निजी अनुभव में इस प्रकार घुला मिला लिया हो कि जीवन के सारे गुप्त रहस्य उसके सामने खुले पड़े हों और जिसने अपनी कल्पना द्वारा, सम्पूर्ण जीवन के आधार स्वरूप जो दैवी सिद्धान्त संसार को परिचालित कर रहे हैं, पूर्णतयः हृदयंगम कर लिया हो। जो नाट्यकार अपनी प्रतिभा द्वारा जीवन की अनेकता के पीछे एकता; विषमता के पीछे

विश्वास तथा श्रद्धा की झाँकी देखता है वही मिश्रितांकी का सफल लेखक हो सकता है। केवल वही कलाकार जिसकी हथेली पर सांसारिक जीवन का यथार्थ तथा उसकी शालीनता और आध्यात्मिक संसार का सार स्थित है और जो इन दोनों में एक्य स्थापित कर सके मिश्रिताकी का श्रेष्ठ नाट्यकार है।

नाटक की परिभाषा मे हम यह सिद्धान्त स्थिर कर चुके हैं कि नाटक जीवन का अनुकरण तथा उसका प्रतिविम्ब है। इस सिद्धान्त के अनुसार कदाचित मिश्रिताकी ही जीवन के सबसे निकट है। सुःखान्तकी जीवन के सुख, हर्ष तथा आनन्द और दुःखान्तकी जीवन के दुख, पीड़ा, नैराश्य का दिग्दर्शन कराती है परन्तु मिश्रिताकी ही जीवन के सुख दुख, हर्ष पीड़ा, आनन्द तथा नैराश्य का एक साथ ही परिचय देती है। इस दृष्टि से तो मिश्रितांकी ही सर्व-श्रेष्ठ नाटक प्रतीत होता है। वास्तव में नाट्यकार के ऊपर मिश्रितांकी रचना में उत्तरदायित्व कहीं अधिक बढ़ जाता है। सुख दुख, हर्ष विषाद, आनन्द और नैराश्य का समुचित, श्रेष्ठ तथा श्रद्धायुक्त प्रदर्शन साधारण श्रेणी का कलाकार कदाचित सफलता पूर्वक नहीं दे सकता। यद्यपि मिश्रितांकी साहित्यिक सिद्धान्तो द्वारा वर्जित कर दी गई है परन्तु जीवन सिद्धान्त उसका पूर्ण समर्थन करता है।

मिश्रिताकी का समर्थन मानव-मनोविज्ञान के सिद्धान्त पूर्णता से करते हैं। मान लीलिए कि आपको सागर की लहरों की ऊचाई का सम्यक ज्ञान प्राप्त करना है। आप सागर के किनारे पूर्णिमा की रात्रि में जा पहुँचे। पूर्ण चन्द्र से आलोकित लहरों की चढ़ाई आपने ज्वार के रूप मे देखी और आपने ज्वार के फलस्वरूप लहरों की ऊँचाई मन में स्थिर कर ली और उसे ही स्वाभाविक ऊंचाई मान ली। तत्पश्चात आप फिर सागर तट पर मध्यान काल में किसी दूसरे दिन जा पहुँचे। आपने देखा कि सागर में ज्वार नही, सागर शान्त है, उसकी लहरें

स्वाभाविक रूप से थोड़ी ही ऊँची उठकर फिर शान्त हो जाती है। आपको भ्रम होना स्वाभाविक ही हैं कि कहीं लहरों का पिछला माप ग़लत तो नहीं ? कहीं यह नया माप ही तो नहीं ठीक है ? ठीक यही दशा हमारे मानस की भी है। यदि आपने उसे हर्ष तथा आनन्द से उद्वेलित तथा तरंगित देखा तो आप को यह भ्रम होगा कि वास्तव में जीवन हर्ष-सागर का ज्वार स्वरूप है। यदि आपने उसे दुख से सन्तप्त मध्यान मे शान्त लहरों के समान देखा तो यह भ्रम होगा कि जीवन दुःख-सागर का भाटा स्वरूप है। दोनों दृश्यों के समतुलन तथा अनुपात मे ही लहरों की यथार्थ तथा स्वाभाविक ऊँचाई का अनुभव हो सकता है। मिश्रिताकी जीवन के विशाल अनुभवों का समतुलन प्रस्तुत करती है। उसका स्थान श्रेष्ठ है; उसकी कला श्रेष्ठ है उसका प्रभाव श्रेष्ठ है।

मिश्रिताकी को समस्या तथा उसकी कला पर आलोचकों के कथन निम्नलिखित हैं।

३

आलोचकों के वक्तव्य

सर फ़िलिप सिड्नी—'बहुत से अंग्रेज़ी नाटक न तो सुःखान्तकी हैं और न दुःखान्तकी। उनमें राजाओं और विदूषकों का ज़बरदस्ती सयोग मिलाया गया है जिसके कारण उनके पढ़ने के वाद न तो भय और न करुणा का संचार होता है और न वास्तविक आनन्द ही मिलता है। वहुत से नाटकों के सुःखान्तक भाग में केवल अश्लील गाली गलौज है जिससे हँसी तो आती है मगर वह आनन्द नहीं मिलता जो श्रेष्ठ सुःखान्तकी से मिलता है।'[1]

---

[1] सर फ़िलिप सिड्नी—'ऐन एपालोजी फ़ार पोयेट्री'

सर आर० हावर्ड—'हमारे नाटक वास्तव में उच्चकोटि के हैं। मगर यह मानना पड़ेगा कि उनमें और नाटकों के विपरीत हास्यपूर्ण और कारुणिक स्थलों का अस्वाभाविक मिश्रण है। केवल बेन जानसन ही ने यह सिद्धान्त नहीं रखा। मेरे विचार में दोनों स्थलो को अलग ही अलग रखना चाहिए क्योंकि एक दूसरे के उद्देश्य में विरोध है। नाट्यकारों को चाहिए कि वे अपने दर्शकों को केवल एक ही वातावरण और विचारधारा में रखें। यदि उनमें नाट्यकार दुःखी भावनाएँ ला चुका है तो उसके साथ ही साथ हास्य का समन्वय ठीक नहीं। दर्शक इस मिश्रण से प्रसन्न नहीं होंगे और दोनों ही भाव एक दूसरे के प्रतिकार के कारण अपना पूरा प्रभाव न डाल पायेंगे।'[1]

जोजेफ़ ऐडीसन—"मिश्रिता की अंग्रेज़ी साहित्य का सबसे घृणित और राक्षसी आविष्कार है। हास्य और दुख को मिलाने का प्रयास इतना अस्वाभाविक और अनुचित है कि इस विषय पर कुछ और अधिक कहना भाषा का दुरुपयोग होगा।"

सैमुएल जानसन—"साहित्यकारों ने मिश्रितांकी की आलोचना भूल में पड़ कर की है। किसी भी तर्क से यह प्रयोग बुरा नहीं कहा जा सकता। जब हम यह मानते हैं कि नाटक में जीवन का सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब होना चाहिए तो हमारी यह आलोचना और भी भ्रममूलक हो जायगी। सासारिक जीवन में हम रोज़ सुख-दुख, हास्य-रुदन, सौभाग्य दुर्भाग्य का मिश्रण देखते हैं और नाटक को स्वाभाविक रूप से इसी जीवन का यथार्थ प्रतिबिम्ब होना चाहिए। सफल नाट्यकारों ने दोनों विरोधी भावों का प्रयोग बड़े प्रभावपूर्ण रूप से किया है। मिश्रितांकी में जहाँ हास्य है वहाँ रोदन भी है। यही सम्मिश्रण हम यथार्थ जीवन में भी पाते हैं।

---

[1]सर आर० हावर्ड—'प्रेफ़ेस टु फ़ोर न्यू प्लेज़'

परन्तु मिश्रित नाटक की सफलता और स्वाभाविकता लेखक की श्रेष्ठ प्रतिभा पर ही निर्भर है। हर एक लेखक हास्य और रोदन का हृदयग्राही मिश्रण शायद ही कर सके। शेक्सपियर में यह प्रतिभा थी।"

सैमुएल जानसन—"शेक्सपियर के नाटक न तो पूर्णरूप से सुःखान्त हैं और न दुःखान्त। उनकी एक अलग ही श्रेणी है। उनके नाटक मानव जीवन का पूर्ण परिचय देते हैं। जीवन के सुख-दुख आनन्द और विलाप, बुरे और भले, सभी का चित्र हमें उनके नाटकों में मिलता है। इस दुनियां की विपरीत गति और इसके नियंत्रण हीन जीवन की भी उन पर अद्भुत छाया है। हम रोज़ ही देखते हैं कि किसी की हानि हो रही हैं तो किसी का लाभ हो रहा है, कहीं आनन्द है तो कहीं प्रलाप है, कहीं प्रेम है तो कही उन्माद और घृणा है, जहाँ विवाह होना चाहिए वहां चिर वियोग होता है, जहाँ चिर वियोग की संभावना है, दैव गति से वहाँ विवाह होता है। ज्ञानी, प्रेमी, विद्वान, युवा जीवन में सफल नहीं होते, अज्ञानी तथा अशिष्ट सफल हो जाते हैं। इसी विस्तृत तथा विरोधी जीवन का उनके नाटकों में हमें सम्पूर्ण चित्र मिलता है। श्रेष्ट नाट्यकारों ने इसी जीवन के कुछ स्थलों को चुन कर नाटक रचना की है। कभी उन्होंने किसी हत्या का कथानक लिया, कभी किसी भयानक घटना को चुना, कभी हास्यपूर्ण स्थल ढूँढे कभी अविकल रोदन के दृश्य बनाए और इन्हीं के आधार पर दो तरह के नाटक—सुःखान्तकी तथा दुःखान्तकी की रचना की।

शेक्सपियर में, एक ही नाटक द्वारा हंसाने और रुलाने की अपूर्व प्रतिभा थी। उनके सभी नाटकों में गंभीर तथा विनोदी पात्र हैं और जैसे जैसे नाटक का कथानक आगे चलता है वैसे ही वैसे सुख दुख, भय-करुणा, हास्य-रुदन का प्रस्फुटन होता रहता है।

साहित्यिक आलोचना की दृष्टि से ऐसे नाटक काव्य के सिद्धान्तों का उल्लंघन करते हैं। परन्तु आलोचना के नियमों के ऊपर हम नहीं

निर्भर रह सकते—हमें जीवन की ओर भी दृष्टि डालनी चाहिए। मिश्रितांकी में हमें काव्य के उद्देश्य की पूरी सफलता देख पड़ती है। ये नाटक जीवन के समीप हैं। कभी उनमें हम हँसी की बौछार देखते है तो कहीं हमें आसुओं की धार मिलती है, कभी महान आत्माएँ दुखी देख पड़ती है, कभी विदूषक सुखी देख पड़ते है। जीवन के इस सम्पूर्ण द्वन्द्व का ये बड़ा सफल परिचय देते हैं।

सुख दुख के विरोधी भावों से दोनों का अनुभव बड़ी तीव्रता से होता है। हम एक दृश्य से दूसरे विरोधी दृश्य का आनन्द बड़ी सफलता से पाते हैं। यह भाव परिवर्तन ही आनन्द का स्रोत है।"[1]

जान ड्राइडेन—"मिश्रितांकी के बारे में यह कहा जाता है कि हम उन्हें देख कर अपने मन में कोई स्थायी भाव नहीं ला पाते। यदि हम कोई दुःखान्तक-अंक देखें तो उसके बाद शीघ्र ही किसी सुःखान्तक अंक का आनन्द हम नहीं पा सकते। एक भाव संसार से दूसरे विरोधी भाव संसार में हम आसानी से नहीं जा सकते। परन्तु यह सिद्धान्त ग़लत है और यह विचार भ्रम मूलक है।

इसके विपरीत यह देखा गया है कि किसी भद्दी तथा अरुचिकर वस्तु के देखने के बाद किसी आकर्षक वस्तु को देखने के लिए हमारी बड़ी इच्छा होती है। हम बहुत जल्द एक ससार से दूसरे संसार में आ जाते हैं। इसके साथ-साथ किसी अरुचिकर वस्तु के सम्पर्क में सुन्दर वस्तु की अच्छाई और उसका आकर्षण और भी बढ जाता है।

बहुत देर तक गंभीर रहने से भी हमारी आत्मा पर एक तरह का बोझ मालूम होता है। हमे शीघ्र ही हास्य की आवश्यकता प्रतीत होती है। जिस प्रकार से अंकों के बीच बीच गीतों द्वारा हमारा मन

---

[1] सैमुएल जानसन—'प्रेफ़ेस टु शेक्सपियर'

बहलाव होता है उसी प्रकार मिश्रितांकी द्वारा हमारा स्वाभाविक मनो-रंजन होता है। जटिल कथावस्तु, गम्भीर भाषा और लम्बे संवाद से जब हम ऊब उठते हैं तभी हमें मिश्रितांकी की उपयोगिता का अनुभव होता है। हास्य और गाम्भीर्य विरोधी भाव तो अवश्य हैं परन्तु दोनों एक दूसरे के सम्पर्क से अधिक रोचक हो जाते हैं। अंग्रेज़ी नाट्यकारों को ही मिश्रित नाटकों के लिखने का श्रेय प्राप्त है। उन्होंने नाट्य शैली को इस नवीन प्रयोग द्वारा पुष्ट तथा श्रेष्ठ बनाया है। अन्य देश के तथा प्राचीन और आधुनिक नाट्यकारों को यह श्रेय नहीं।"

---

[1] जान ड्राइडेन—'ऐन एसे आन ड्रैमैटिक पोयेज़ी'

५

पंचम खण्ड

प्रहसन

१

प्रहसन की पृष्ठ भूमि

सुःखान्तकी के अन्तर्गत हम प्रहसन की गणना, साहित्यिक रूप से कर सकते हैं। सुःखान्तकी के विषयों तथा उसकी शैली का हम विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। हम यहाँ यह निर्णय करेंगे कि प्रसहन की पृष्ठ भूमि, उसके विषय तथा उसकी निर्माण शैली की कौन कौन सी विशेषताएँ हैं।

यदि सामाजिक रूप से देखा जाय तो प्रहसन उसी समय लिखे गए हैं जब समाज का सास्कृतिक स्तर निम्न कोटि का रहा है। इस से यह सिद्धान्त निकल सकता है कि समाज की उन्नत अवस्था में श्रेष्ठ प्रहसनों की रचना दुष्कर कार्य होगा। कुछ अंशों में यह सिद्धान्त माननीय हो सकता है। परन्तु जैसा हम इतिहास के अध्ययन से देखते आ रहे हैं उन्नति और अवनति का चक्र सदा से चलता आ रहा है और ज्योंही समाज उन्नत अवस्था को प्राप्त होता है, त्योंही समय ऐसा पलटा लेता है कि उन्नति अवनति मे परिणत होने लगती है। समाज के पुराने सिद्धान्त बदलने लगते हैं, उनका माप दण्ड भी परिवर्तित होने लगता है। इस ऐतिहासिक परिवर्त्तन में हमें सदैव समाज के कुछ न कुछ अंग ऐसे अवश्य मिलते रहेंगे जिन पर प्रहसन-रचना हो सकती है। सच तो यह है कि जीवन की प्रगति के साथ साथ कुछ ऐसे अवगुण भी उसमे निहित रहते हैं जिनको निकाल कर साहित्यकार प्रहसन रच सकते हैं।

इस विचार से यह सिद्धान्त निकलता है कि प्रहसन का समाज से चोली दामन का सम्बन्ध है। प्रहसन, समाज का ही सहारा लिए

अपनी मर्यादा बनाए रख सकता है। इसके प्रतिकूल यह भी कहा जा सकता है कि क्या एक व्यक्ति का लक्ष्य कर प्रहसन रचना नहीं हो सकती ? इसका उत्तर यह है कि एक व्यक्ति के जीवन का आधार लेकर प्रहसन लिखा तो जा सकता है परन्तु उसकी लोक-प्रियता न बढ़ पाएगी। इसकी लोक प्रियता बढ़ाने का केवल यही उपाय है कि जिस व्यक्ति विशेष का लक्ष्य् कर हम प्रहसन लिखें उस व्यक्ति विशेष को किसी ख़ास वर्ग का प्रतिनिधि मान लें। या अपने अनुभव द्वारा यह निश्चित कर लें कि उस व्यक्ति-विशेष मे कौन से ऐसे दोष अथवा अवगुण हैं जो समाज में भी साधारणतः फैले हुए हैं। इस आधार पर सफल प्रहसन लिखे जा सकते हैं। ऐतिहासिक तथा साहित्यिक रूप से यह सिद्धान्त मान्य है कि प्रहसन सदैव समाज के सहारे ही फल फूल सकते हैं।

समाज से हमारा तात्पर्य केवल हमारे सामूहिक रहन-सहन से नहीं, वरन् समाज के अन्तर्गत हम अनेक विषयों का समावेश कर सकते हैं। राजनीति, अर्थ-शास्त्र, दर्शन, सभी का संबन्ध मानव समाज ही से है। इन सभी अंगों पर हम प्रहसन लिख सकते हैं। राजनीति के दाँव-पेंच, वर्ग-वैमनस्व, तथा मानव-प्रकृति के अनेक स्थल फलप्रद हो सकेंगे। यूनानी लेखक ऐरिस्टाफनीज़ के सुःखान्तकी प्रहसनात्मक हैं और उसमें उन्होंने समकालीन लेखकों, कवियों और नाट्यकारों की खिल्ली इस वास्ते उड़ाई है कि उनमें तथा अनेक नाट्यकारों में राजनीतिक तथा साहित्यिक वैमनस्व था। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीनकाल से नाट्यकार समाज तथा उसके अनेक अंगों का प्रहसनात्मक प्रयोग करते आए हैं।

संस्कृत साहित्य मे अलग से प्रहसन लिखने की साहित्यिक परम्परा नहीं ज्ञात होती। यद्यपि साहित्यिक नाट्यकारों ने प्रहसन की एक श्रेणी मानी है, परन्तु प्रहसन की आधुनिक परिभाषा के अनुसार हमें

संस्कृत साहित्य में प्रहसन लिखे हुए दुर्लभ हैं। हाँ, सुःखान्तकी के बीच-बीच मे सदा कोई न कोई प्रहसनात्मक दृश्य अवश्य रहते हैं और वे नाटक के कार्य में सहयोग देते हैं। या यों कहिए कि इन प्रहसनात्मक दृश्यों से वस्तु-विश्लेषण तथा उसकी जटिलताओं को सुलझाया जाता है। संस्कृत साहित्य मे प्रहसन की न्यूनता होने का कारण, समाज की उन्नत दशा तथा आदर्शवादी नाटक-रचना की परम्परा, मालूम होता है। आदर्श-वादी रचनाओं में प्रहसन की कोई उपयोगिता नहीं और समाज की समुन्नत दशा मे प्रहसन की आवश्यकता ही क्या ?

हिन्दी साहित्य मे प्रहसन लिखे तो गए, मगर उन पर अंग्रेज़ी साहित्य का इतना गहरा प्रभाव है कि कभी-कभी उनकी मौलिकता पर भ्रम होने लगता है। पहले पहल तो हिन्दी में कुछ अंग्रेज़ी दुःखान्तकी की अनुवाद प्रथा चली, तत्पश्चात् शेक्सपियर के सुःखान्तकीयों का अनुवाद शुरू हुआ और अनुवादकों को 'मर्चेन्ट आव विनिस' तथा 'कामेडी आव एरर्स' अधिक रुचिकर रहे। इन अनुवादों मे, लेखकों ने कभी वातावरण तथा कथानक और पात्र ज्यों के त्यों रखे हैं कभी उनको भारतीय आवरण पहना दिया है। हिन्दी में, प्रहसन प्रियता उन्नीसवी शताब्दी से आरम्भ हुई, जिससे प्रहसन के सामाजिक सम्बन्ध पर काफी प्रकाश पड़ता है। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय जनता तथा भारतीय समाज पर पाश्चात्य सभ्यता का रंग चढ़ने लगा था। अग्रेज़ी शिक्षा तथा अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम ने समाज को इतना दबोच लिया था कि धीरे-धीरे भारत अपनी प्राचीन संस्कृति तथा आचार-विचार से मुँह मोड़ कर समाज को अग्रेज़ी के रंग मे रँग देने को उत्सुक था। समाज की इस परिवर्तित रूप रेखा तथा समाज की नक़ल करने की उत्सुकता पर लेखकों को प्रहसन लिखने का आमन्त्रण मिला। इसी कारण इस काल मे प्रहसनों की

भरमार है। हिन्दी साहित्य के प्रहसन लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, देवकीनन्दन त्रिपाठी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राधाचरण गोस्वामी तथा किशोरी लाल गोस्वामी उल्लेखनीय हैं। अन्य प्रहसन लेखकों के बारे में श्री लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का कथन मान्य है।

"परन्तु यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि हिन्दी के हास्य रसात्मक ग्रन्थों मे अधिकतर अर्थहीन प्रलाप देखने को मिलता है। हास्य निम्न श्रेणी का है और व्यंग प्राणहीन। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, देवकी नन्दन त्रिपाठी तथा राधाचरण गोस्वामी को छोड़ कर अन्य लेखकों ने उच्चकोटि के तीक्ष्ण व्यंग की सृष्टि नहीं की है। उनका परिहास असंगत और स्वाभाविकता की सीमा का उलंघन करने वाला है। मालूम होता है ज़बरदस्ती हास्य और व्यंग प्रकट करने का यत्न किया जा रहा है। एक तो पराधीन देश का हास्य ही क्या। दूसरे इन रचनाओं के पात्र समाज की निम्न श्रेणी के हैं। अधिकांश पात्रों मे हमें कोई बुड्ढा, शिशुवर, वेश्या, कुटनियाँ, चरित्रहीन स्त्रियाँ, नशेबाज़, मोटा महाजन, ओझा आदि ही मिलते हैं। इस अशिक्षित और असंस्कृत जन समूह में हमे किसी अधकचरे समाज सुधारक और देश-सेवक के दर्शन भी हो जाते हैं। परन्तु उनका सामाजिक कुरीतियों का मज़ाक भी ऊटपटाग, भद्दे और अश्लील ढङ्ग का है। उससे ऐसे परिहास की जिसमें सत्य की भावना छिपी हो और जो सीधा हृदय पर जाकर चोट करे अवतारणा नहीं होती।"[1]

इसके पहले कि हम प्रहसन के विषय तथा उसकी शैली का विवेचन करें, हम प्रहसनों की लोकप्रियता का विवेचन करेंगे। सुःखान्तकी के विपरीत प्रहसनों की अधिक लोकप्रियता है और कदाचित रहेगी भी। जैसा कि हम पहले प्रकरणों में संकेत कर चुके

---

[1] वार्ष्णेय—'आधुनिक हिन्दी साहित्य'

हैं समाज की समुन्नत दशा में ही श्रेष्ठ सुःखान्तकी तथा श्रेष्ठ दुःखान्तकी की रचना हो सकती है। और ऐसा समय बहुत कठिनता से और बहुत दिनों बाद आता है और यह समय थोड़े वर्षों के लिए ही रहता है। इसके फलस्वरूप हमें ऐतिहासिक प्रगति तथा सामाजिक उन्नति का मुँह देखना पड़ता है। प्रहसनों के लिए इस प्रकार की कोई बाधा नहीं। उनके लिए सब काल में, सभी समाज में, किसी विषयाधार पर अच्छा मसाला मिल सकता है। इसी कारण प्रहसन अधिक लिखे गए हैं।

प्रहसनों की लोकप्रियता का दूसरा स्पष्ट कारण यह है कि हम जीवन की विषमताओं; उसके संघर्ष तथा उसके दिन प्रतिदिन के आदान प्रदान के कष्टों से छुटकारा चाहते हैं। चाहे यह छुटकारा कुछ ही समय के लिए क्यों न हो हम सन्तुष्ट अवश्य हो जाते हैं। यह छुटकारा हमें प्रहसन बड़ी सरलता से दे देते हैं। इनका साधन है हास्य। हास्य जीवन यात्रा का अपूर्व संबल है। ऐसा हास्य जिसमें छोटा से छोटा आदमी, अशिक्षित से अशिक्षित प्राणी भाग ले सके लोक प्रिय रहा है। जैसा कि हम सुःखान्तकी-सिद्धान्त के विचारकों की परिभाषाओं से जान चुके हैं, सुःखान्तकी का हास्य विशेषतः मानसिक होता है। मानसिक हास्य को पूर्णतयः समझ कर उसका रस लेने में शिक्षा, सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि तथा परिष्कृत मस्तिष्क की आवश्यकता पड़ेगी। बिना इस तैयारी के सुःखान्तकी का श्रेष्ठ स्वाद नहीं मिल सकता। परन्तु साधारण जनता के पास ये साधन कहाँ। मगर उनकी संख्या सब से अधिक है और दर्शक वर्ग में भी उन्ही की संख्या सब से ज़्यादा है। इससे यह स्पष्ट है कि इसी दर्शक वर्ग को ध्यान मे रख कर प्रहसन लिखे गए हैं और इसी कारण उनकी लोक-प्रियता भी बनी रही है।

२

प्रहसन के विषय

यूनानी तथा अंग्रेज़ी साहित्यकारों में, जैसा हम उनके वक्तव्यों से प्रमाणित कर चुके हैं, प्रहसनों के लिए केवल निम्नकोटि का जीवन ही उपयुक्त माना है। सुःखान्तकी खण्ड में हमने यूनानी तथा अंग्रेज़ी लेखकों के इस सिद्धान्त का विवेचन किया है, वही विवेचन यहाँ भी लागू होता है। साधारणतः इसका भी कारण वर्ग-पक्षपात तथा श्रेष्ठ वर्ग पर श्रद्धा बनाए रखने का उद्देश्य था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि निम्न वर्ग में प्रहसन के विषय आसानी से मिल जाते हैं और लेखक को अधिक छानबीन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जितना स्पष्ट रूप से निम्न वर्ग का समुदाय प्रहसनात्मक विषय प्रस्तुत करता है उतना शायद श्रेष्ठ अथवा मध्यम-वर्गीय समुदाय नहीं कर सकता है। इस विचार से यह भ्रम-मूलक सिद्धान्त नहीं निकालना चाहिए कि श्रेष्ठ तथा मध्यम वर्गीय समाज में प्रहसन के लायक विषय नहीं हैं। इन वर्गों में भी प्रहसनात्मक विषय हैं और वहुत हैं, मगर उसे ढूँढ़ने तथा उनमें हास्य का परिपाक करने मे कुछ विशेष साहित्यिक श्रम पड़ता है। अंग्रेज़ी लेखकों ने, यह श्रम उठा नहीं रखा और फ्रांसीसी प्रहसनों को आदर्श-रूप मान कर उन्होंने श्रेष्ठ प्रहसनों की रचना की है।

सुःखान्तकी के वनिस्वत प्रहसनों की लोकप्रियता और उसके लिखने की सरलता पर अंग्रेज़ी लेखक जान ड्राइडेन के विचार बहुत कुछ अंश में सही मालूम होते हैं। उनका कथन है कि सुःखान्तकी तथा प्रहसन के लेखकों में वही अन्तर है जो एक कुशल चिकित्सक

तथा एक नीम हकीम में होता है। दोनों ही रोगी को अच्छा करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु एक का प्रयत्न वैज्ञानिक तथा विश्वस्त ढङ्ग का है और दूसरे का जोखिम में डालने वाला है। अधिकतर यही देखा गया है कि कुशल चिकित्सक असफल रहते हैं और नीम हकीम सफल हो जाते हैं। उसी प्रकार प्रहसन दर्शकों को अधिक सफलता से वशीभूत कर लेते हैं।

प्रहसनों की लोक-प्रियता का एक महत्वपूर्ण साहित्यिक कारण भी है। दुःखान्तकी अथवा सुःखान्तकी के बनिस्बत प्रहसन की रचना सरल प्रतीत होती है। दुःखान्तकी तथा सुःखान्तकी प्रकरणों के अध्ययन से यह साफ़ पता चल जाता है कि दोनों की रचना में अनेक गुणों का होना आवश्यक है। लेखक को वस्तु-विश्लेषण, पात्र निर्माण, चरित्र-चित्रण, प्रगति तथा आपदकाल को सफल-रूप से प्रस्तुत करने में विशेष श्रम तथा सूझ बूझ की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु प्रहसन लेखक यदि केवल हास्य प्रस्तुत कर सके तो हम उसकी सफलता मान लेते हैं—चाहे वह हास्य परिस्थिति द्वारा हो अथवा कथोपकथन द्वारा अथवा किसी भी प्रयोग से हो। इसका विवेचन हम आगे करेंगे। यदि लेखक इस हास्य-प्रदर्शन के अन्तिम उद्देश्य में सफल है तो वह धन्य है। उससे हम और किसी प्रकार का फल नहीं चाहते। निर्माण शैली की सरलता तथा हास्य की व्यापकता ने अनेक लेखकों को आकर्षित कर उन्हें प्रहसन लिखने की प्रेरणा दी है। उन्हें कितनी सफलता मिली है इसका निर्णय हम हास्य की श्रेष्ठता, उसकी शिष्टता तथा उसकी व्यापकता की कसौटी द्वारा कर सकते हैं[१]।

साहित्यिक रूप से प्रहसन लिखने में पूर्ण सफलता फ्रांसीसी

---

[१] देखिए—'हास्य की परख'

लेखकों को मिली है। इन लेखकों ने मानवी-भावों में से किसी एक को चुन कर उसे विषयाधार मान कर प्रहसन रचना की है। इस मानवी-भाव के चयन से ही उनके प्रहसनों की लोकप्रियता, व्यापकता तथा श्रेष्ठता बढ़ी है। कभी-कभी तो उनके प्रहसन, सुःखान्तकी से टक्कर लेने लगते हैं। इसका कारण यह है कि इन फ़ांसीसी लेखकों ने हास्य प्रदर्शन के साथ-साथ चरित्र-चित्रण, चरित्र-विश्लेषण तथा मनोवैज्ञानिक विवेचन भी दिया है। अंग्रेज़ी के प्रहसनों पर फ़्रांसीसी प्रहसन लेखकों का विशद प्रभाव पड़ा है।

अंग्रेज़ी साहित्य के प्रहसनों का मूल विषय मनुष्य की मानवी भावनाएँ हैं। लोभ, गर्व, प्रतिहिंसा अहं भाव इत्यादि मानवी भावनाओं को लेकर श्रेष्ठ प्रहसनों की रचना हुई है। ये मानवी भाव जब समाज के लोगों से टक्कर लेने लगते हैं और अन्त में मुँह की खाते हैं तो हममें उनके प्रति एक हास्य-पूर्ण घृणा उत्पन्न होती है। विशेषतः हमारा हास्य हमारी घृणा को छिपाए रहता है। स्पष्ट सुधार की भावना से प्रेरित हो अंग्रेज़ी में प्रहसन कम लिखे गए हैं; हाँ शायद चरित्र के परिमार्जन का कहीं-कहीं लक्ष्य अवश्य दिखलाई पड़ता है। परन्तु उनमें श्रेष्ठ श्रेणी का हास्य निहित है। अंग्रेज़ी नाट्यकारों ने, प्रहसनों में हास्य प्रस्तुत करने के अनेक ऐसे विषय भी चुने है जिनमे हिन्दी तथा संस्कृत के प्रहसनात्मक दृश्यों में बहुत हद तक साम्य दिखलाई देता है।

अंग्रेज़ी नाट्यकारों ने प्रहसन के विषयाधारों में निम्नलिखित विषय फलप्रद माने हैं —

१—सौन्दर्य, ज्ञान तथा धन का अहंभाव

२—मानसिक कुरूपता: असंगति, अनौचित्य, अनैतिकता

३—भ्रम-मूलक आशाएँ तथा विचार

४—निरर्थक वार्तालाप अथवा अनर्गल संवाद अथवा श्लेष-पूर्ण

कथोपकथन

५—अशिष्ठता, दुःशील तथा शाब्दिक वितण्डावाद

६—प्रपंच-पूर्ण कार्य तथा अस्वाभाविक जीवन

७—मूर्खतापूर्ण कार्य

८—पाखण्ड तथा अस्वाभाविक आदर्श

९—शारीरिक स्थूलता

१०—मद्यपान तथा भोजन प्रियता

११—विदूषक

संस्कृत के सुःखान्तकीयों के प्रहसनात्मक दृश्यों तथा आधुनिक हिन्दी के प्रहसनों में हम इन्हीं उपरोक्त विषयों की पुनरावृत्ति देखते हैं। संस्कृत नाटकों का विदूषक प्रहसनात्मक दृश्यों का प्राण-स्वरूप होता है। प्रहसन के विदूषक का संक्षिप्त विवेचन हम आगे करेंगे। भारतीय समाज में प्रहसन के लिए अभूत-पूर्व विषय प्रस्तुत हैं। कुछ पर प्रहसन रचे गए हैं और कुछ अभी तक अछूते हैं। नाट्यकारों तथा प्रहसन-लेखकों को अब तक निम्न-लिखित विषय अधिक प्रिय प्रतीत हुए हैं :—

१—गार्हस्थ्य जीवन : (क) पति पत्नी के घरेलू झगड़े (ख) बहु-विवाह तथा अविवाहित जीवन (ग) बेमेल विवाह तथा तलाक़ (घ) श्वसुर, सास, जेठानी, नन्द तथा बहुओं के झगड़े। (ङ) मालिक तथा नौकर के झगड़े।

२—सामाजिक जीवन : (क) शराब ख़ोरी। (ख) जुआ। (ग) असंगत प्रेम तथा वेश्यावृत्ति। (घ) छल तथा कपट-पूर्ण व्यवहार। (ङ) ऊँच नीच भेद। (च) रूढ़िवादी चरित्र। (छ) आधुनिक फैशन-युक्त जीवन। (ज) प्राचीन शिक्षण पद्धति; पंडित तथा मौलवी का जीवन। (झ) धार्मिक पाखण्ड। (ण) हिंसा।

३—**राजनीतिक जीवन :** (क) दल-बन्दी । (ख) स्वेच्छाचारिता । (ग) कूटनीति ।

४—**आर्थिक-जीवन :** (क) मालिक-मज़दूर के झगड़े । (ख) मध्य-युग के उपयुक्त दृष्टिकोण । (ग) धन का अहंकार । (घ) लेन-देन व्यापार ।

५—**वैयक्तिक जीवन :** (क) शारीरिक स्थूलता । (ख) भोजन-प्रियता ।

६—विदूषक : यदि हम अंग्रेज़ी नाट्यकारों तथा संस्कृत और हिन्दी नाट्यकारों के प्रहसन सम्बन्धी विषय चयन का अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि तीनों साहित्यों में बहुत कुछ साम्य हैं। सामाजिक अवस्था का बहुत कुछ हाथ प्रहसनों के विषय प्रस्तुत करने में है और यदि हमें कोई ख़ास विषय अंग्रेजी प्रहसनों में नहीं मिलता तो उसका कारण सामाजिक ही है। उदाहरण के लिए गार्हस्थ्य जीवन के चित्र हमें अग्रेज़ी-प्रहसनों में नहीं मिलेगे परन्तु सामाजिक विषयों की प्रचुरता मिलेगी; इसके साथ-साथ भारतीय समाज में प्रहसन के उपयुक्त सामग्री की सीमा नहीं ।

३

प्रहसन के तत्व

१

परिस्थिति प्रधान

प्रहसनों को हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं :

(१) परिस्थिति प्रधान (२) चरित्र-प्रधान (३) कथोपकथन-प्रधान (४) विदूषक-प्रधान

परिस्थिति प्रधान—प्रहसनों में लेखक को कथा-वस्तु

का सम्पूर्ण सहारा लेना पड़ता है। अपने अनुभव अथवा निरीक्षण से कलाकार कुछ ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है जिनकी असंगति देख कर हंसी आती है। फिर वह उन परिस्थितियों को वस्तु में इस प्रकार संजोता है कि हास्य स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत हो जाता है। उदाहरण के लिए प्राचीन शिक्षण पद्धति के पंडित जी विद्यार्थी-गण से अपनी सेवा करा रहे हैं और उधर शिक्षा विभाग के डिप्टी साहब मुआयना लिखने आ रहे हैं, एक तरफ़ बुड्ढ़ा वर बाजे गाजे के साथ अष्ट-वर्षीया गौरी-भवेत से विवाह करने जा रहा है और दूसरी तरफ़ शारदा ऐक्ट के संरक्षक अपना लश्कर लिए आ पहुँचते हैं, अथवा सास-बहू मे झगड़ा होने के उपरान्त सास की विजय होती है परन्तु दूसरे ही क्षण श्वसुर के क्रोध-पूर्ण दण्ड-प्रहार से सास की अधोगति भी होती है। इसी प्रकार के अन्यान्य जीवन-स्थल चुन कर उन्हें असामान्य रूप से प्रस्तुत कर नाट्यकार प्रहसन की रचना करते हैं। सामाजिक कुरीतियों का दिग्दर्शन कराने में परिस्थिति-प्रधान प्रहसन अधिक प्रभाव पूर्ण प्रतीत होंगे। इसका कारण यह है कि लेखक यदि परिस्थिति का सहारा न लेकर कथोपकथन अथवा विदूषक का सहारा लेगा तो लेक्चरबाज़ी द्वारा अथवा ऊपरी हास्य द्वारा ध्येय की पूर्त्ति करनी होगी। इन दोनों उपकरणों से सामाजिक कुरीति का जीता जागता चित्र दर्शकों के सामने न आ पाएगा। कोरे कथोपकथन से भी वह अपनी उद्देश्य पूर्त्ति चाहे तो कर सकता है मगर यह सर्व-विदित है कि तर्क की शैली का प्रभाव कुछ ही लोगों पर पड़ता है परन्तु परिस्थिति के नग्न चित्र से उद्देश्य पूर्ति सरलता से होती है।

परिस्थिति-प्रधान प्रहसनों में लेखक को ऐसे स्थल चुनने चाहिए जो बहुत ज्यादा व्यापक हों। यदि परिस्थिति ऐसी है जो समाज के किसी ख़ास वर्ग से ही संबंधित है तो कदाचित उसकी लोक-प्रियता पर धक्का लगेगा। फिर केवल एक छोटे वर्ग से ही संबंधित जीवन, वास्त-

विक जीवन नहीं और उस पर टिका हुआ साहित्य कदाचित् बहुत दिनों जीवित भी न रह पाएगा! इस सिद्धान्त से यह निष्कर्ष निकलता है कि परिस्थिति के चुनाव में जितनी अधिक व्यापकता रहेगी उतनी ही उसकी लोक प्रियता रहेगी तथा उसमे उतने ही अमरत्व के गुण रहेंगे।

परिस्थिति प्रधान प्रहसनों की सबसे बड़ी भूल अतिशयोक्ति का प्रयोग है। लेखक, सुधार की धुन में, वास्तविक जीवन धारा से इतने अलग होकर परिस्थिति का चुनाव करते हैं कि जिसको देखने के पश्चात् यह भावना जाग्रत होती है कि शायद ऐसा हमेशा तो नहीं होता। जब दर्शकों में ऐसी भावना उठ खड़ी हुई तो स्पष्ट है कि प्रहसन असफल है। परिस्थिति के चुनाव में वास्तविक जीवन पर एक आँख लगाए रहना अत्यन्त आवश्यक है। इसके साथ ही साथ प्रहसनों को कुरुचिपूर्ण तथा अश्लील हास्य अथवा गाली गलौज के स्थलों से बचाना चाहिए। प्रगति-शील लेखक शायद इस नियम के प्रतिकूल कोई अन्य सिद्धान्त उपस्थित करें मगर यह सिद्धान्त सदैव मान्य रहा है कि कोरी वास्तविकता की भित्ति पर साहित्य कठिनाई से ही महान हो सका है; उसके लिए महान प्रतिभा की आवश्यकता है। हिन्दी साहित्य के प्रहसन साधारणतः परिस्थिति प्रधान हैं।

२

चरित्र प्रधान

चरित्र-प्रधान प्रहसनों में मानवी-भाव ही आधार स्वरूप रहते हैं। क्रोध, गर्व, अहंकार, लालसा, लोभ, मोह, पाखण्ड, द्वेष, घृणा इत्यादि के आधार-भूत चरित्र-प्रधान प्रहसनों का निर्माण हुआ है। पात्र अथवा नायक इन्हीं मानवी-भावों में से एक अथवा दो का प्रतीक रहता है। जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं फ़ांसीसी प्रहसन-लेखकों ने इस दृष्टि से अपूर्व सफलता पाई है और अनेक श्रेष्ठ अंग्रेजी प्रहसनों

में भी यही सिद्धान्त मान्य रहा है।

इसमें सन्देह नहीं कि उपरोक्त मानवी-भाव प्रत्येक जीवित मनुष्य में रहते है मगर ये मानवी भाव प्रहसन के अनुकूल तभी होते हैं जब वे अपनी मर्यादा उलंघन का यत्न करते हैं। जब तक ये मानवी भाव मर्यादित रहते हैं उनमें नाटकीय तत्व नहीं मिलते अथवा वे नाटकीय उपयोग के लायक़ नहीं होते। उदाहरण के लिए सभी प्राणियों में क्रोध, गर्व तथा लालसा की भावना स्वभावतः रहती है। एक समय ऐसा आता है कि मनुष्य जीवन से खीझ कर धीरे धीरे क्रोध की मात्रा अपने में बढ़ाने लगता है। क्रोध बढ़ते बढ़ते ऐसा हास्यास्पद हो जाता है कि प्रहसन-कार उसी बढ़े हुए क्रोध को ऐसे दृष्टि कोण से देखता है कि बरबस उस चरित्र पर हंसी आने लगती है! मान लीजिए कि नायक को क्रोध अपने दफ्तर के मालिक पर इसलिए है कि वह उसको विवाह करने के लिए छुट्टी की अर्जी नामंजूर कर चुका है। धीरे धीरे उसका क्रोध बढ़ रहा है; और यदि उसका क्रोध सफल हो जाय तो वह जाकर मालिक से बदला ले, मार पीट करे; दुःखान्तकी का वातावरण प्रस्तुत कर दे, मगर उसका क्रोध यह रास्ता न पकड़ कर उस पात्र विशेष को ही अपना शिकार बनाता है। इसके फल-स्वरूप वह अपने जूते को पटकता है, पाजामे की जगह कोट पहनता है और अपनी टोपी छड़ी पर टांग कर चलता है। इस दृश्य को प्रहसनकार शीघ्र ही समेट लेता है। प्रहसन मानवी-भावों के अतिक्रमण के निष्फल रूप हैं। हमें चरित्र-प्रधान प्रहसनों की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए केवल फ्रांसीसी तथा अंग्रेज़ी सिद्धान्तों का सहारा न लेकर तर्क और मनोविज्ञान का भी सहारा लेना वाञ्छनीय जान पड़ता है। पहले तो यह स्पष्ट ही है कि चरित्र-प्रधान प्रहसनों के निर्माण में श्रेष्ठ नाटकीय कला की आवश्यकता पड़ती है। इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि क्या परिस्थिति प्रधान प्रहसनों में कला की

आवश्यकता नहीं ? इसका उत्तर यह है कि है अवश्य परन्तु उस कोटि की कला की नहीं जो चरित्र-प्रधान प्रहसनों मे प्रयुक्त होती है। परिस्थिति-प्रधान-प्रहसन कार केवल असाधारण तथा असामान्य परिस्थिति-इकट्ठी कर आसानी से हास्य प्रस्तुत कर देता है, उसकी खोज केवल जीवन के मोटे मोटे स्थलों तक सीमित रहती है। उसकी कला की सफलता इसी में है कि वह कुछ ऐसे संशय तथा विस्मय में डालने वाले स्थल आकस्मिक रूप से प्रस्तुत कर दे और उन्हें ऐसे हास्यास्पद स्थलों से संबंधित कर दे कि उनमे रोचकता आजाय।

इसके विपरीत चरित्र प्रधान-प्रहसन-कार मानव-हृदय की जटिलताओं में चक्कर काटता हुआ, अनुभव और निरीक्षण का आधार लिए, उसके भावों तथा उनकी प्रतिक्रियाओं को समझता हुआ इधर उधर प्रहसनात्मक अंशों को बटोर कर हास्य प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। इस प्रयास मे श्रेष्ट कला का उपयोग सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए एक मदारी अनेक प्रकार के वन्दर इकट्ठे करके उन्हे छोड़ देता है, उनमें कोई हाथ पर हाथ धरे बैठा है, कोई एक आँख बन्द किए हुए अपना सर खुजला रहा है, कोई दुम को गर्दन मे जंज़ीर समान बाध रहा है, कोई शीर्षाशन कर रहा है और कोई प्रगाढ़ निद्रा में सोया हुआ अपनी प्रेयसी से जुएं निकलवा रहा है। यदि आप कहें कि मदारी की कला महान है जिसने यह दृश्य प्रस्तुत कर दिए तो हमे आपकी आलोचक प्रतिभा पर संशय होगा। परन्तु एक दूसरे मदारी को लीजिए। उसने अपना डमरू बजाकर एक वन्दर-दम्पति जगाया। डमरु की गति के साथ ही साथ दम्पति नाचने लगे। ज्यों ही डमरू की गति धीमी हुई श्रीमती ने अपनी ओढ़नी ओढी और मायके की ओर प्रस्थान की तैयारी की। वन्दर ने भी एक मोढ़े पर बैठ कर अपनी पगिया संवारी, मुंह चिकनाया और एक छोटी लाटी ले उनको साम, दाम, दण्ड, भेद सबका उपयोग कर वापस लाने की ठानी।

ज्यों ही डमरू की ध्वनि और गति बन्द हुई बन्दर दम्पति ज्यों का त्यों साधुभाव से शान्त बैठ गया। वास्तव में इस मदारी में, उसके डमरू में, उस डमरू की ध्वनि और गति में एक विशेष प्रकार की कला है। चरित्र प्रधान प्रहसन लेखक में इसी श्रेष्ठ कोटि की कला दिखलाई देगी।

इसके साथ ही साथ चरित्र-प्रधान प्रहसन हमारे हृदय को इस लिए छूते रहते हैं कि उनमें हमारी ही भावनाओं का दिग्दर्शन मिलता है। उन्हें देख कर हमें अपने पर हंसी आती है। प्रहसन हमारे मानवी-भावों का हास्यात्मक रंगस्थल है।

३

कथोपकथन प्रधान

जिन प्रहसनों में कथोपकथन द्वारा हास्य प्रस्तुत किया जाता है उनकी भी आधुनिक काल में विशेष लोक प्रियता है। आधुनिक काल वाक्-चातुर्य का काल है। वाक्चातुर्य एक श्रेष्ठ कला है जिसमें विद्वत्ता तथा शब्द-ज्ञान का विशेष हाथ रहता है। व्यंग, श्लेष, तथा उपहास इसके प्रधान अंग हैं। व्यंग के तीखे बाण छोड़ कर, श्लेष का शाब्दिक प्रयोग कर तथा उपहास का वातावरण उपस्थित कर कथोपकथन-प्रधान प्रहसन लिखे गए हैं।

कथोपकथन प्रधान प्रहसनों में शिष्ट संभाषण के स्तर से नीचे गिरने की बड़ी आशंका रहती है। हास्य-प्रस्तुत करने की धुन में लेखक व्यंग की मर्यादा की रक्षा न कर पात्र को हताहत कर उसे निश्चेष्ट कर देते हैं। व्यंग की सफलता तभी है जब दोनों ओर की चोट बराबर बैठे और यह कहना कठिन हो जाय कि किसकी हार हुई।

राह चलते दुबले पतले क्षीणकाय नाट्यकार बर्नर्डशॉ तथा मोटे झोटे स्थूल-काय लेखक चेस्टर-टन की मुठभेड़ हो गई है—

चेस्टरटन-शॉ! तुम्हें देखने से तो मालूम होता है कि शायद लन्दन में क़हत पड़ गया है ?

शॉ—और तुम्हें देखने पर विश्वास हो जाता है कि तुम्हीं उसके ज़िम्मेदार हो ?

उपरोक्त संवाद में दोनों चोटें किसी एक दूसरे से कम नहीं चाहे जीत उसमें शॉ की ही हुई हो।

श्लेष का उपयोग प्रहसनकार बड़ी सरलता से करते आए हैं और शायद इसका प्रयोग किसी हद तक इतना अधिक हो गया है कि संवाद की स्वाभाविकता पर सन्देह होने लगता है। प्रत्येक वाक्य में श्लेष का उपयोग मस्तिष्क को थका देता है और उसका प्रभाव उसके अतिप्रयोग से क्षीण हो जाता है। इसका प्रयोग पान में चूने के समान होना ही वाञ्छित है।

कभी कभी लेखकों ने दूसरे लेखकों की शैली तथा विषय प्रतिपादन का उपहास-पूर्ण अनुकरण कर अच्छे कोटि का हास्य प्रस्तुत किया है। इससे यह समझना भूल होगी कि श्रेष्ठ लेखकों का उपहासात्मक अनुकरण श्रेष्ठ लेखक की निन्दा है। इसके विपरीत यह सिद्धान्त मान्य है कि इसमें श्रेष्ठ लेखक की श्रेष्ठता प्रमाणित होती है। हिन्दी जगत के अनेक लेखकों की कविताओं का उपहास-पूर्ण-अनुकरण हुआ है जिससे कि कदाचित कुछ लेखकों को मानसिक दुःख पहुँचा है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि जो उपहासपूर्ण काव्य का अनुकरण करता है वह एक प्रकार से लेखक को आदर दान देता है और यह सिद्ध करता है कि जब वह उस लेखक की कोटि का काव्य न लिख सका तब उसका सहारा ढूढ़ कर हास्य ही प्रस्तुत करने की चेष्टा की। जितना ही श्रेष्ठ काव्य होगा उतनी ही

सरलता से उसका उपहासात्मक अनुकरण हो सकेगा। अनुकरण की सरलता उसकी श्रेष्ठता का सफल प्रमाण है।

कुछ लेखकों ने कथोपकथन द्वारा हास्य प्रस्तुत करने का बड़ा सरल साधन अपनाया है। कुछ ख़ास पात्रों को कोई न कोई तकिया कलाम अथवा शाब्दिक आवृत्ति दे दी जाती है जिसके द्वारा हास्य सरलता से प्रस्तुत हो जाता है—'जी हुज़ूर', 'क्या कहने हैं', 'राम जी की क़सम', 'दरी चेशक', 'सीताराम सीताराम', 'वल्लाह आलम', इत्यादि ऐसे शब्द-समूह हैं जो पात्र द्वारा मौक़े बेमौक़े दुहराए जाते हैं जिनसे सफल हास्य प्रस्तुत होता है। शाब्दिक अथवा भाव-समूहों की पुनरावृत्ति मे हास्य की आत्मा निहित है।[1] प्रहसनों में इनका प्रयोग लोकप्रिय है। कथोप-कथन के साथ साथ कुछ लेखकों ने आंगिक पुनरावृत्ति (जब प्रहसन रंग-स्थल पर खेले जाय) से भी हास्य का सफल निर्माण किया है। किसी विशेष प्रकार से सर हिलाना, हाथ पटकना, चलना, मुंह बनाना, आखे नचाना, आंगिक पुनरावृत्ति के अन्तर्गत आते हैं। इनसे रंगस्थल पर काफ़ी मात्रा में हास्य प्रस्तुत हुआ है। परन्तु इसमें भी आधिक्य आ जाने से हास्य की स्वाभाविकता समाप्त हो जाती है।

४

विदूषक-प्रधान

विदूषक प्रधान प्रहसन अंग्रेज़ी साहित्य में नहीं के बराबर हैं। परन्तु विदूषक का प्रयोग श्रेष्ठ कोटि के सुःखान्तकीयों तथा दुःखान्तकीयों में हुआ है। संस्कृत नाटकों में भी विदूषक की परम्परा

---

[1] देखिए—'हास्य की परख'

देखने को मिलती है। इन नाटकों का विदूषक अनेक प्रकार से हास्य प्रस्तुत करता है। पहले तो वह संस्कृत नाटकों के आदर्शपूर्ण नायकों का अन्तरंग मित्र रहता है और उसकी पहुँच हर जगह रहती है। वह स्त्री-पात्रों के साथ बे रोक टोक वादाविवाद करता है, नायिका को नायक का सन्देश पहुँचाता है पत्रवाहक का कार्य करता है और नायक की निजी भावनाओं से पूर्णतः परिचित रह कर उस पर व्यंग बाण चलाता रहता है। इसके साथ ही साथ वह नायक तथा नायिका की बड़े आड़े समय सहायता करता है। कभी कभी तो ऐसा जान पड़ता है कि यदि लेखक विदूषक का पार्ट अलग कर दे तो वस्तु की पूर्त्ति कदाचित असंभव हो जाय। उसी के द्वारा वस्तु की तथा कार्य की पूर्त्ति कभी कभी असंन्दिग्ध रूप में होती है।

विदूषक को, हास्य प्रस्तुत करने मे अपनी सज धज तथा वेश-भूषा का स्पष्ट सहारा रहता है। अपनी टोपी, अपनी तिलक-मुद्रा, तथा अपनी चाल ढाल से वह साधारणतः हास्य प्रस्तुत किया करता है। अपनी स्थूल काया की दुहाई देकर तथा अपनी भोजन प्रियता और पेटू-पन की ओर इशारा कर वह दर्शकों को हंसाता रहता है।

कथोपकथन द्वारा भी विदूषक बड़ी सफलता से हास्य निर्माण करता है। वह व्यंग, श्लेष, उपहास तीनों का प्रयोग महारथियों के समान करता है। और अन्त में उसी की विजय रहती है।

अंग्रेज़ी साहित्य के नाटकों में विदूषक का स्थान बहुत महत्व-पूर्ण है। यद्यपि वह संस्कृत के नाटकों के विदूषक से बहुत कुछ मिलता जुलता है फिर भी वह विशेष कर शेक्सपियर के सुःखान्तकीयों तथा दुःखान्तकीयों में महत्व पूर्ण स्थान लिए रहता है। अंग्रेज़ी नाटकों का विदूषक भी अपनी वेश-भूषा, अपने व्यंग तथा उपहासात्मक अनुकरण से हसी लाता रहता है। वह मदिरा प्रेमी, सफल गायक, तथा दुःखपूर्ण क्षणों को आनन्द में परिवर्त्तित करने वाला होता है।

व्यंग तथा तर्क का वह महारथी रहता है, परन्तु उसके ऊपर दुःखान्तकी अथवा सुःखान्तकी के वस्तु की पूर्ति का भार नहीं रहता। सुःखान्तकी में वह नायिका से शब्द-चातुर्य में बाज़ी मार ले जाता है, दुःखान्तकी में वह नायक को दार्शनिक रूप से सहारा दिए रहता है तथा प्रहसनों मे अपने तकियाकलाम, व्यंग, तथा शाब्दिक चमत्कार पूर्ण संवाद से ठिठोली करता रहता है। विदूषक-प्रधान प्रहसन रचना आजकल लोक प्रिय नहीं।

६

षष्टम खण्ड

एकाँकी

१

एकाँकी का उद्गम

एकांकी अंग्रेज़ी साहित्य की देन है।[1]

ऐतिहासिक रूप में, कदाचित् एकाँकी का उद्गम दसवीं शताब्दी के धार्मिक अवसरों पर प्रदर्शित उन कथानकों तथा सन्त जीवनियो में रहा होगा जो ईसाई-धर्म के भिक्षु तथा पादरी वर्ग के संरक्षण मे हुआ करता था[2]। कदाचित मध्य-युग के गायकों, भाटों तथा नटों द्वारा दिखलाए गए उन प्रदर्शनों में भी इसकी सुदूर छाया मिल सकती है, जो उस समय की जनता को बहुत ही प्रिय थे। गायकों के वीर-गीतों, भाटों के वीर गाथाओं तथा युद्ध-स्थल के वर्णनों में इसका स्रोत अस्पष्ट रूप मे कदाचित रहा होगा।

दसवी शताब्दी के इसाई भिक्षु अपनी धार्मिक-शिक्षा प्रसार के लिए कुछ मनोरंजक वातावरण निर्मित किया करते थे। कोरी धार्मिक शिक्षा जो केवल दर्शकों की आत्मा को स्वर्ग का दर्शन कराना चाहती थी, उनके मन को वश में नहीं कर सकती थी। इस सत्य को समझ कर पादरी वर्ग ने सन्तों की जीवनी के कुछ रोचक तथा अद्भुत-रस से पूर्ण उन स्थलों को चुना जो दर्शकों को देर तक आकर्षित रख सकते थे। इन कथानकों को वे पहले तो केवल अपने वर्ग की सहायता से फिर कुछ अन्य उत्साहपूर्ण दर्शकों के सहयोग से जनता के सामने नाटकीय रूप में प्रदर्शित करते थे। इन कथानकों में कहीं प्रेम की पराकाष्ठा थी, कहीं दया और करुणा की विजय थी, कहीं सहानुभूति

---

[1] कुछ आलोचक एकाँकी का उद्गम संस्कृत साहित्य से मानते हैं; परन्तु एकाँकी लेखन जब बीसवीं शताब्दी में शुरू हुआ तो स्पष्ट है कि उस पर अंग्रेज़ी का प्रभाव है न कि संस्कृत का।

[2] देखिए—'अंग्रेज़ी साहित्य का इतिहास'—'नाटक खण्ड'

की अविरल छाया थी और कहीं बलिदान तथा त्याग की मूर्तिमान भावना थी। इन्हीं भावनाओं मे एकांकी की छाया मिल सकती है।

वास्तव मे सन्त-जीवनी से लिए गए कथानक ही एकांकी के आदि-रूप रहे होंगे। धर्मोपदेश के बीच के खण्ड मे अथवा पहले पादरी-वर्ग इन कथानकों का अभिनय करते थे। कभी ये दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किए जाते थे कभी अपनी निजी रोचकता के लिए। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे थोड़े ही समय में तथा कुछ ही पात्रों द्वारा खेले जाते थे। उस समय के चार नाटक-संग्रहों—चेस्टर, यार्क, टाउन्ली तथा कॉवेन्ट्री-के अध्ययन से पता चलता है कि प्रत्येक नाटक में केवल एक ही भावना-विशेष रहती थी। सन्तों के अद्भुत धर्म-कार्यों में, जिन्हें 'मिरेकिल्स' नाम दिया जाता था, हम केवल एक ही विषय तथा कहानी का आभास पाते हैं। इनके साथ के नैतिक-शिक्षा-विषयक-कथानकों में भी जिन्हें 'मोरैलिटीज़' नाम मिला, हम केवल एक ही विषय का प्रदर्शन पाते हैं। जिन विनोदांकों का उपयोग अभिनेता-वर्ग जनता के मनोरंजन के लिए करते थे और जो 'इन्टरलूड्स' के नाम से प्रख्यात हुए, उनमे भी पात्रों की संख्या एक से तीन तक रहती थी और उनके प्रदर्शन मे बहुत कम समय लगता था।

इन कथानकों, विनोदाकों, तथा अद्भुत धर्म-कार्यो की कहानियों में हम जिन भावनाओं का एकाकी प्रसार पाते हैं उनमे मुख्य धैर्य, क्षमा, प्रेम, सहानुभूति, भक्ति, श्रद्धा, निस्वार्थ-सेवा बलिदान तथा दान हैं। जैसा कि संकेत किया जा चुका है, इन भावनाओं के प्रदर्शन में लेखकों ने समुचित कला का उपयोग किया है। कहानी के अन्त में जो प्रभाव दर्शकों पर पड़ता था उसमें भी केवल एक ही भावना-विशेष का प्रभाव था। यह प्रभाव इतने स्पष्ट तथा तीव्र रूप में दर्शकों पर पड़ता था कि कहानी दर्शकों को बहुत दिनों तक याद रह सकती थी। इन नैतिक कथानकों तथा विनोदाकों की पृष्ठ-भूमि, वस्तु, पात्र तथा

उद्देश्य में, हम ऐतिहासिक रूप में, एकाँकी का प्रथम-दर्शन पाते हैं।

सामाजिक रूप से यदि हम एकांकी का आदि-रूप जानना चाहें तो हमे अंग्रेज़ी समाज के कुछ नियमों तथा उसकी आवश्यकताओं को ध्यान मे रखना होगा। बीसवीं शताब्दी में अंग्रेज़ी समाज ने खाने पीने के समय मे कुछ परिवर्त्तन आरम्भ किया। जो समय पहले मान्य था उसमे अड़चने दिखलाई पड़ने लगीं। कुछ लोग पुराने समय पर अड़े हुए थे, कुछ ने नया समय अपना लिया था और एक-मत से समय निश्चित करना अगर असंभव नहीं तो कठिन अवश्य था। ऐसी स्थिति में भोजनालयों तथा प्रीति-भोज में समय की बड़ी गड़बड़ी होती थी। एक के बाद दूसरे मेहमान को खिलाने पिलाने की प्रथा न थी। जब सब मेहमान इकट्ठे हो जाते तभी खाने का सामान प्रस्तुत किया जाता था। जो लोग पुराने विचारों वाले थे वे नौ बजे रात्रि मे पहुँचते कुछ समय-सुधारक सात ही बचे आ पहुँचते और कुछ आठ बजे अपने दैनिक कार्य से निवृत्त होकर ही शरीक हो सकते थे। ऐसी दशा में नौ बजे रात्रि तक मेहमानों का तांता लगा रहता था और उसी समय से भोजन आरम्भ होता था। प्रश्न यह था कि पहले से आए हुए मेहमानो का समय कैसे कटे। परस्पर बातचीत मे समय अवश्य कट सकता था, मगर अंग्रेज़ आपस मे जल्दी दोस्ती बढ़ाने में बड़ा संकोच करते हैं। यह उनका जातीय गुण है। जब तक कि परिचय न दिया जाय और आपस में आना जाना काफी बढ़ न जाय तब तक वे एक दूसरे से खिंचे से रहते हैं। ऐसे वातावरण मे यह आवश्यक हो गया कि कुछ ऐसा साधन ढूँढ निकाला जाय, जिससे कि बीच का ख़ाली समय आसानी से कट जाय। इसी साधन की खोज में एकाँकी का निर्माण हुआ। इसका प्रथम उद्देश्य था मनोरंजन प्रस्तुत करना।

यों भी साहित्य-रचना में मनोरंजन का काफ़ी स्थान रहता है,

परन्तु एकाँकी के प्रदर्शन में मनोरंजन प्रस्तुत करना लेखकों का प्रमुख ध्येय था। लेखक, दर्शकों की रुचि भली भाँति समझ कर एकाँकी रचना करते थे और इसी कारण जो एकाँकी पहले पहल लिखे गए उनमे हास्य की मात्रा विशेष होती थी। उन्हें हम प्रहसन के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। इन प्रहसनों के प्रदर्शन देखने में कभी कभी दर्शक-वर्ग इतना आकर्षित रहता था कि यदि कोई व्यक्ति बीच में आ जाता और बैठने की जगह ढूँढ़ने लगता तो थोड़ी देर के लिए काफी गड़बड़ी फैल जाती थी। यह गड़बड़ी हम आज कल के सिनेमा-हाल में भी नित्य देख सकते हैं। दर्शक-वर्ग जो पहले से आकर बैठ गया और एकाग्र होकर प्रदर्शन देखना शुरू किया उसे स्वाभाविकतः इन देर से आने वालों पर क्रोध आता है। हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि कभी कभी यह क्रोध उग्र रूप भी धारण कर सकता था। इस परिस्थिति में रंग-शालाओं के ऊपर एक नया भार पड़ गया। उन्हें अब कोई ऐसी व्यवस्था ढूँढ़ निकालनी थी जिससे कि दोनों पक्षों की बात रह जाती। इसी को ध्यान में रखते हुए, लेखकों ने एक अन्य-प्रकार की एकाँकी का निर्माण किया जिसे हम प्रवेशिका[1] कह सकते हैं। प्रवेशिकाओं मे पात्रों की संख्या साधारणतयः दो होती थी और उनकी वस्तु मे किसी प्रकार की श्रेष्ठता नहीं रहती थी। केवल दो पात्रों के ही संवाद द्वारा किसी न किसी साधारण भावना का प्रदर्शन किया जाता था। उनकी महत्ता भी ऐसी नहीं होती थी कि यदि वे देखे न जायँ तो किसी प्रकार की कमी का अनुभव हो। वास्तव मे उनका स्थान बहुत गौण रहा करता था, यद्यपि उनका प्रदर्शन पहले होता था परन्तु विशेष महत्त्व था एकाकी का जिसके लिखने मे लेखक समुचित कला का उपयोग करते थे।

---

[1] कर्टेन रेज़र

एकाकी-लेखन वास्तव मे एक श्रेष्ठ कला है। कदाचित, कुछ अंशो मे एकाँकी लेखक को, सम्पूर्ण नाटक लेखक के बनिस्बत, अधिक कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। नाटक की पृष्ठभूमि विस्तृत होती है, उसकी कथा-वस्तु मे समुचित विस्तार हो सकता है, उसके पात्र अनेक तथा असमरूप रहते हैं। इन साधनो के अतिरिक्त नाटककार को समय का अभाव नही रहता और वह अपनी बात विस्तार के साथ कह सकता है। एकाँकी लेखक को हर क़दम पर कठिनाई का अनुभव होता है और वह इन कठिनाइयों पर श्रेष्ठ कला के उपयोग से ही विजय पा सकता है।

एकाँकी तथा नाटक

कुछ आलोचकों का विचार है कि एकाकी केवल एक छोटा नाटक है अथवा नाटक का ही संकुचित स्वरूप है। यह विचार भ्रम-मूलक है और एकाँकी के उद्गम की ओर ध्यान देने पर हमे यह स्पष्ट-रूप से ज्ञात हो जाता है कि दोनो मे महान अन्तर है। नाट्यकला के उद्यम की कहानी हम पढ़ चुके हैं; एकाकी के उद्यम पर भी हम अभी विचार कर चुके हैं और यह स्पष्ट है कि दोनों ने अपने अलग अलग रास्ते अपनाए हैं और अपना व्यक्तित्व पृथक रखा है। दोनो का उद्गम भिन्न है, दोनों की प्रगति मे विभिन्नता है और दोनों के प्रभाव तथा निर्माण-शैली में भी अन्तर है।

२

एकाँकी के विषय

विषय-चयन: इतिहास

नाटक लेखकों के सम्मुख, नाटक रचना के लिए विषय की इतनी अधिक प्रचुरता है कि कभी कभी कठिनाई यह होती है कि कौन सा विषय चुना जाय। उनके सामने, इतिहास अपने पृष्ठ खोले हुए

अनगिनत विषय-सूची प्रस्तुत किए रहता है। ऐतिहासिक विषयों में राजाओं की जीवनी, उनके अनेक महत्व-पूर्ण कार्य, उनका पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय और वैयक्तिक जीवन सभी नाटककार अपने नाटकों में समेट सकता है। सामन्तों तथा राष्ट्रीय वीरों, नेताओं, सुधारकों तथा सेनानायकों के महत्व-पूर्ण कार्यों को नाट्यकार अपने नाटकों में प्रदर्शित कर सकता है। अपने नाटकों में वह उन ऐतिहासिक घटनाओं, क्रान्तियों तथा राष्ट्र की काया-पलट करने वाली नीति को नाटकीय रूप मे प्रस्तुत कर सकता है जो देश के इतिहास मे अमर स्थान पा गई हैं।

ऐतिहासिक विषय-चयन में नाट्यकार का प्रमुख ध्येय, दर्शकों में भूत-काल का गौरव तथा उसके प्रति गर्व की भावना का प्रसार करना रहता है। इतिहास मे ही देशों के प्राचीन गौरव की कहानी स्वर्णांकित रहती है। जव नाट्यकार ऐसे गौरव-पूर्ण स्थल रंग मंच पर सफलता से प्रदर्शित करता है तो स्वभावतः दर्शकों मे महानता, उत्त्कर्ष तथा अभ्युत्थान की भावना तीव्र-रूप से जाग्रत हो जाती है। इसी कारण अंग्रेज़ी रंग मंच पर, महारानी एलिज़वेथ के समय मे शेक्सपियर लिखित ऐतिहासिक नाटकों—हेनरी प्रथम, हेनरी तृतीय, रिचर्ड इत्यादि की वड़ी प्रशंसा हुई और वे वहुत लोकप्रिय रहे। फ्रांसीसी रंग मंच पर नेपोलियन वोनापार्ट तथा लुई आठवे के जीवन से संवंधित विषयों की वड़ी लोकप्रियता रही। भारतीय रंग मंच पर चन्द्रगुप्त, अशोक, महाराणा प्रताप, शिवाजी, दुर्गादास तथा अन्यान्य ऐतिहासिक पुरुषों की जीवन-गाथा वहुत लोक-प्रिय रही है और भविष्य में भी रहेगी। जव तक इतिहास जीवित रहेगा तव तक नाट्य-कार उसके कोष से विषय-चुनकर जनता को भूत काल की गौरव गरिमा से प्रभावान्वित करते रहेंगे।

लोक-गाथा

नाट्य-कार के सम्मुख इतिहास से संबंधित विषयों के अतिरिक्त लोक-गाथाओं का अमर-कोष भी प्रस्तुत रहता है। यूनान तथा रोम की लोकगाथाएं, इंगलिस्तान तथा स्कॉटलैण्ड की लोकगाथाएं तथा भारतीय पौराणिक कथाओं को विषय-रूप मानकर अन्यान्य नाटकों का निर्माण हुआ है। यूनान की लोक-गाथाओं में, देवी-देवताओं, दैत्यों-दानवों, शूर-वीरो से संबंधित अनेक दैवी घटनाओं मे नाटक के विषय प्रचुर-रूप मे हैं। कुछ अंग्रेज़ी लेखकों ने इनका नाटकीय उपयोग सोलहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध मे किया था। भारतवर्ष की पौराणिक कथाओं में तो नाटकीय विषयों का अक्षय भण्डार है। श्रीमद्भागवत तथा उसकी अन्तर्कथाओं में, ध्रुव तथा प्रहलाद सरीखे भक्तों की जीवनी में तथा देवी देवताओं से सम्बंधित रोचक कथाओं में नाट्य रचना के लिए बहुत सामग्री है। भारत के प्राचीन ऋषियों तथा उनकी तपस्या-सम्बन्धी अन्तर्कथाओं में भी बहुत लोकप्रिय ऐसे विषय हैं जिनको लेकर सफल नाटक-रचना हो सकती है।

लोक गाथाओं तथा पौराणिक कथाओं को विषयाधार मान कर नाटक-रचना का मुख्य उद्देश्य प्राचीन संस्कृति तथा प्राचीन सभ्यता की परिपाटी को जीवित रखना है। प्राचीन संस्कृति तथा सभ्यता से प्रेम तथा उस पर श्रद्धा स्वाभाविक है। प्राचीन संस्कृति तथा सभ्यता के सामाजिक तथा राष्ट्रीय आचार, विचार तथा नियमों और आदर्शों के अनुशीलन में एक विचित्र प्रकार के हर्ष तथा गर्व का अनुभव होता है, और उसी प्राचीन संस्कृति को सामने रख कर हम अर्वाचीन संस्कृति और सभ्यता का सम्यक माप लगा सकते हैं। वस्तुतः ऐतिहासिक तथा लोक गाथा विषयों का मूल उद्देश्य प्राचीन गौरव-गरिमा का पुनरुत्थान तथा प्राचीन संस्कृति का अभ्युत्थान प्रदर्शित करना है।

मानवी भाव

नाट्य-कारों के सम्मुख उन मानवी विषयों का भी अनन्त प्रसार रहता है जिनको लेकर कलाकारों ने उत्कृष्ट नाटकों की रचना की है। मानवी गुण और दोष, सद्गुण और दुर्गुण जो मानव-चरित्र में आदिकाल से निहित हैं, उनकी भित्ति पर महान नाटकों का निर्माण हुआ है। जब से मानव धरती पर अवतीर्ण हुआ है तब से उसके रक्त और चरित्र मे अनेक भावों तथा विचारों का समावेश होता आया है। प्रेम, ममता, लालसा, स्नेह, सौहार्द्र, सहानुभूति; द्वेप, घृणा, वैर कामना, आकांक्षा, महत्वाकांक्षा; अभिलाषा, आशा निराशा; गर्व, दंभ, निर्दयता, क्रूरता, हत्या; अकर्मण्यता, अविवेक, वीरता, कायरता, प्रत्येक प्राणी के अन्तस्तल मे छिपे रहते हैं। समय और वातावरण की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता देख कर वे डूबते तिराते हैं। मानव-हृदय एक प्रकार का समुद्र है जिसमें जीवन की असीम शक्तियाँ मन्थन करती रहती हैं और अमृत और विष दोनों का उत्पादन करती हैं। नाट्य-कार इनमें से किसी भी भाव-समूह को लेकर नाटक का निर्माण कर सकता है।

इन नाटकीय विषयों के चयन का मुख्य नाटकीय उद्देश्य मनुष्य की आदि भावनाओं तथा विचारों का दिग्दर्शन कराना है। रंग-मंच पर इन भावों अथवा भाव-समूहों का प्रदर्शन देख कर मानव स्वयं अपने आपको पहचान सकता है। नाट्य-कार अपनी कला द्वारा मनुष्य की आँखे उसके अन्तस्तल की ओर झुका कर अपने को पहचानने पर वाध्य करता है। इसके प्रदर्शन द्वारा मनुष्य में सद्गुणों के प्रति आकर्पण तथा दुर्गुणों के प्रति घृणा का प्रसार होकर मानव हृदय तथा मानव चरित्र का परिमार्जन होता है। जो नाटक इन भाव-समूहों के विषयाधार पर लिखे जाते हैं उनका प्रभाव मानव-हृदय पर गहरा पड़ता है। साधारणतः नाटक-कार इस विपय पर लिखे

गए नाटकों में एक रूढ़िवादी शैली का प्रयोग करता है। इस शैली से वह नाटक के विषय को केवल दो भागों में विभक्त करके दोनों से वाह्य द्वन्द्व प्रस्तुत करता है। नाटक के पहले वर्ग के प्रतिनिधि एक विशेष भाव समूह के प्रतीक होते हैं और उसके प्रतिकूल भाव-समूह के प्रतिनिधि स्वरूप दूसरा वर्ग रहता है और दोनों में घोर द्वन्द्व के पश्चात् एक की विजय घोषित होती है। उदाहरण के लिए नाटक का एक वर्ग दया, क्षमा और सौहार्द्र का प्रतिनिधि रह सकता है और उसका विरोधी वर्ग क्रूरता, प्रतिशोध तथा द्वेष का प्रतिनिधि हो सकता है। विरोधी भावों के प्रतिनिधि स्वरूप जिन दो वर्गों में संघर्ष प्रस्तुत होता है उसमें नाट्यकार को श्रेष्ठ कला के प्रयोग का सुअवसर कम मिलता है। ऐसे विषय पर आधारित नाटकों को हम वाह्य-द्वन्द्वी नाम दे सकते हैं।

अन्य नाटकों में नाट्यकार इन्हीं मानवी भावों का अर्तद्वन्द्व प्रस्तुत कर सकता है। यद्यपि वह नाट्य-विषय को दो वर्गों में विभाजित करता है, परन्तु दोनों वर्गों के प्रतिनिधि-स्वरूप जो जो पात्र हमारे सामने आते हैं वे अन्तर्द्वन्द्व से उद्वेलित रहते हैं। यद्यपि वे वाह्य द्वन्द्व में भाग लेते हैं परन्तु दर्शकों को वे तभी आकर्षित करते हैं जब वे अपने अन्तस्तल के अन्तर्द्वन्द्व का प्रकाश हमारे सामने करते हैं। इस प्रकार के विषय श्रेष्ठ नाट्य-कारो को प्रिय रहे हैं और अन्तर्द्वन्द्व प्रदर्शन मे ही उनकी महत्ता रही है। इन अन्तर्द्वन्द्वी अथवा विश्लेषक अथवा मनो-विज्ञानी नाटकों की महत्ता साहित्य मे सर्वदा रहेगी। उदाहरण के लिए एक ही पात्र में स्नेह और क्रूरता, दया और प्रतिशोध, अकर्मण्यता और वीरता, लालसा और हत्या का अन्तर्द्वन्द्व नाट्यकार प्रदर्शित कर सकता है। अंग्रेज़ी नाट्यकार शेक्सपियर के नाटक इसी वर्ग के हैं।

इस शैली मे लिखे गए नाटकों का उद्देश्य मानव-हृदय की गहरा-इयो को नापना है। काल तथा परिस्थिति के आवर्त्त मे पड़कर मनुष्य

का हृदय किस तरह परिवर्त्तित होता रहता है, कौन कौन सी नैतिक अथवा अनैतिक शक्तियों का यह शिकार हुआ करता है; किस प्रकार वह स्वभावतः अपने ही बनाए हुए जाल में फंस कर अपने जीवन का अन्त करता है; किस प्रकार उसके मानसिक अवगुणों का सहारा ढूंढ़ कर परिस्थितियाँ उसको विनाश के राह पर लाकर डाल देती हैं। इन सब का लेखा हमें मनोविज्ञानी अथवा अर्न्तद्वन्द्वी नाटकों में मिलेगा। इन नाटकों का दूसरा उद्देश्य है मानव-हृदय अथवा मानव-चरित्र की श्रेष्ठता की स्थापना। नाट्यकार अपनी समुचित कला से हममें जीवन के प्रति श्रद्धा तथा विश्वास की ज्योति जागरित करता है। वह अन्त में जीवन की सत्यता, उसकी सुन्दरता तथा उसकी शालीनता की प्रतिष्ठा कर हमें अपूर्व सन्तोष दान देता है। जो नाट्यकार इसके विपरीत भावनाओं का प्रसार नाटकों में करना चाहते हैं उन्हें निराशावादी[1] कलाकार और जो उपरोक्त भावनाओं का प्रसार करते हैं उन्हें आशावादी कलाकार नाम मिला है।

समाज

सामाजिक आचार विचार, रीति रिवाज तथा रहन-सहन ने भी नाटक रचना के लिए यथेष्ट विषय प्रस्तुत किए हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। जो समाज वह अपने लिए निर्माण करता है उसके साथ अनेक नियम अपने आप बनते चले जाते हैं। ये नियम किसी ख़ास समय, किसी विशेष परिस्थिति, किसी ख़ास वर्ग के मनुष्य बनाते हैं। काल के चक्र में, उन नियमों और बन्धनों की उपयोगिता ज्यों ज्यों समाज बदलता जाता है, त्यों त्यों कम होती जाती है। बदलते हुए समाज को अब नवीन नियमों की आवश्यकता जान पड़ती है। परन्तु समाज तो रूढ़िग्रस्त है। लोग पुराने नियमों में इतने

---

१. देखिए—'काव्य की परख'

लिप्त हैं कि उनको तोड़ना उनके साहस के परे है। रूढ़ि ग्रस्त-समाज तब सुधारक की बाट जोहने लगता है। समय पाकर सुधारक का जन्म होता है और वह अपने उत्साह तथा व्यावहारिकता से उन रूढ़ियों पर प्रहार करना शुरू करता है जिसके फल-स्वरूप सुधारक के अनुयायी बढ़ चलते हैं और सम्पूर्ण समाज धीरे धीरे उस सुधार की भावना को अपनाना आरम्भ कर देता है और समाज सुदृढ़ बनता चला जाता है।

सामाजिक विषय-चयन का मुख्य उद्देश्य समाज सुधार और जनता मे जागरण प्रस्तुत करना रहता है। नाट्यकार समाज के अन्याय अंगों पर प्रकाश डाल कर जनता को चैतन्य कर सकता है। योरप के सभी देशों के नाट्य-कारों ने सामाजिक-कुरीतियो को आधार-भूत मान कर श्रेष्ठ नाटकों की रचना की है। भारतीय नाट्यकारों ने इन सामाजिक विपयों का पूर्ण रूप से उपयोग किया है। बाल-विवाह, बहु-विवाह, शराब-ख़ोरी, जुआ, अविद्या का परिणाम, फिज़ूलखर्ची पाश्चात्य देशो के सिद्धान्तों तथा उनके रीति रवाजों का अनुकरण, वेश्या-वृत्ति तथा अनेक कुरीतियों पर नाटक-रचना हुई है। सुधारक-नाटक रचना मे एक विशेष शैली के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है। इस शैली को हास्यात्मक शैली नाम दे सकते हैं।

दुःखान्तकी तथा सुखान्तकी की शैली[1] के अन्तर्गत सुधारक-नाटको की कम रचना हुई है। इसका एक विशेष कारण है। दुःखान्तकी की शैली गौरवपूर्ण तथा उत्कृष्ट विषयों के लिए ही साधारणतः उपयुक्त होती आई हैं। यदि इस शैली मे सामाजिक कुरीतियों का दिग्दर्शन कराया जाय तो ऐसा ही जान पड़ेगा जैसे किसी बड़े सिंहासन पर जगन्नाथ की छोटी सी मूर्ति रखी है अथवा किसी छोटे बालक को उसके पिता के कपड़े पहना दिए गए हैं। वैभव पूर्ण तथा उन्नत और

[1] देखिए **'नाटक की परख'**

श्रेष्ठ विषय ही जो मानव के इतिहास से संबंधित रहते हैं दुःखान्तकी की शैली में कदाचित् फलते हैं[1]। सुःखान्तकी की शैली, यद्यपि इन विषयों से प्रयुक्त हुई है परन्तु इसमें वाँच्छित सफलता कठिनाई से ही मिलती है। इसका कारण यह है कि सुःखान्तकी की शैली तभी फल फूल सकती है जब विषय-प्रसार में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का स्थान उचित रूप में मिले। वास्तव में, समाज की कुरीतियों का सफल प्रदर्शन हास्यात्मक शैली द्वारा ही हो सकता है।

[2]हास्य सामाजिक कुरीतियों का श्रेष्ठ तथा सफल सुधारक है। इसका प्रयोग कर के नाट्यकार कुरीतियों को इस ढंग से प्रदर्शित करता है कि वरवस हंसी आती है और हम उस कुरीति को घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। नाट्यकार ऐसी परिस्थिति तथा ऐसा वातावरण प्रस्तुत कर देता है कि कुरीति अत्यन्त वेढंगी तथा कुरूप प्रतीत होने लगती है और उसे अपनाने वाले हास्यास्पद जान पड़ने लगते है। इसी भावना से प्रेरित होकर समाज अपने को कुरीति से दूर करने लगता है।

समस्याएँ

इन सामाजिक विषयों के साथ साथ आधुनिक नाट्यकारों ने मानव-समाज से संबन्धित अनेक समस्याओं को भी नाटक का विषयाधार बनाया है। आधुनिक मानव-समाज कुछ अर्थ-शास्त्रियों, व्यवसायियों तथा राजनीतिज्ञों के हाथ की कठपुतली के समान है। इन वर्गों ने समाज के सम्मुख अनेक प्रश्न उपस्थित कर दिए हैं। इन्होंने वर्ग-संघर्ष, वर्ग-वैमनस्व, प्रतिद्वन्दी आदर्श, जनता के सामने रख कर जन-समूह को इन प्रश्नों का हल ढूंढने पर विवश किया है। अर्थ शास्त्रियों

[1]आधुनिक युग में सिद्धान्त का घोर विरोध हुआ है। देखिए 'दुःखान्तकी खण्ड'

[2]देखिए—'हास्य की परख'

ने अनेक प्रकार के आर्थिक आदर्शों को समाज के सम्मुख रखा है जिनमें मुख्य हैं साम्य-वादी तथा पूंजीवादी; व्यवसायियों ने अपनी धन लिप्सा से अनेक वर्ग निर्मित कर दिए ह; राजनीतिज्ञो ने साम्यवाद, प्रजातन्त्र, जन-तन्त्र तथा एक-राज-शासन, तानाशाही आदि राजनीतिक आदर्शों को समाज के सामने लाकर उसको श्रेष्ठ-शासन विधान अपनाने का आमंत्रण दिया है। न्याय-विधान से सम्बन्धित अनेक प्रश्नों को नाट्यकारों ने विषयाधार माना है। ग़रीबी तथा अमीरी की समस्या; ऊच तथा नीच की समस्या, महाजन तथा क़र्ज़दार की समस्या, क़ानून तथा अपराधी की जटिल समस्या, असहयोग तथा सहयोग की समस्या, विवाह तथा तलाक़ संवन्धी समस्याएं सभी वड़ी सरलता से नाट्यकार अपना कर श्रेष्ठ-नाटक रचना कर सकते हैं।

इन समस्यात्मक नाटकों का मुख उद्देश्य जनता और समाज के सम्मुख, इन समस्याओं की विषमताओं तथा उससे संवन्धित सामाजिक हानि लाभ का लेखा प्रस्तुत कर समाज को उन समस्याओं को सफल-रूप से हल करने पर बाध्य करना है। न्याय तथा अन्याय संवन्धी समस्याओं तथा विवाह और तलाक़ संबंधी प्रश्नों को कुछ अंग्रेज़ी नाट्यकारों ने इतना सफल नाटकीय-रूप दिया कि सरकार ने विवश होकर कुछ पुराने नियम बदल दिए और नए क़ानूनों का निर्माण किया है। समाज मे जब वर्गीकरण के फल-स्वरूप कुछ विषम समस्याएँ पैदा हो जाती हैं तो प्रतिद्वन्द्वी वर्गों मे घृणा, द्वेष, शत्रुता, वैर तथा हानि पहुँचाने की भावनाएं जाग्रत हो जाती हैं। प्रतिद्वन्द्वी वर्ग अपनी पूरी शक्ति लगाकर एक दूसरे को नीचा दिखलाने तथा परास्त करने की धुन में लग जाते हैं। इस द्वन्द्व तथा प्रतिस्पर्द्धा के कारण जो दोनों ओर की हानि होती है उस पर दोनो वर्ग अपने अभिमान के कारण दृष्टि पात नहीं करते। वे दोनों अपने गर्व में चूर अपनी जीत के नारे लगाते रहते हैं। नाट्यकार को इस द्वन्द्व के फल सरूप जो भलाई

बुराई दिखलाई दे उसी को कलापूर्ण ढंग से प्रस्तुत करना चाहिए।

समस्यात्मक नाटकों के लिखने में शायद श्रेष्ठतम कला की आवश्यकता होती है। शायद इस श्रेणी के सफल नाटक-लिखने मे अन्य विषयों पर नाटक लिखने के बनिस्वत अधिक कलात्मक-श्रम की ज़रूरत पड़ेगी। इसका एक कारण है। जब नाट्यकार समस्यात्मक नाटकों को हाथ में लेता है तो वह एक मनुष्य की हैसियत से अपने को किसी न किसी वर्ग का प्रतिनिधि अथवा अनुयायी मान लेता है। और यह अत्यन्त स्वाभाविक भी है। उदाहरण के लिए पूंजीवाद तथा साम्यवाद से संबन्धित समस्या पर प्रकाश डालने मे लेखक के निजी व्यक्तित्व का बड़ा भारी हाथ रहेगा। यदि वह पूंजीवादी समाज में पला है, फला फूला है तो स्वाभाविकतः वह उनका पक्ष लेने पर बाध्य हो जायगा।

इसी प्रकार साम्यवादी आदर्शों का मानने वाला कलाकार, अपनी कला के आदर्शों को भुला कर उस वर्ग का प्रतिनिधित्व ग्रहण कर लेगा और अपने विरोधी वर्ग को उचित रूप से स्पष्ट नहीं कर सकेगा। इसी तरह व्यवसायी वर्ग से सहानुभूति रखने वाला और मज़दूर-वर्ग से विमुख कलाकार केवल अपने ही पक्ष के समर्थन मे फंस कर समस्या की सारी गुत्थियो को न सुलझा सकेगा।

समस्यात्मक नाटकों के लिखने मे वाह्यवादी[1] शैली ही अधिक उपयोगी प्रमाणित होगी और हुई भी है। इस शैली मे विषय-प्रतिपादन करने से दोनों विरोधी पक्षों के अधिकारों का सम्यक माप मिलेगा। एक कुशल वकील के समान कलाकार जब दोनो पक्षों की कहानी, निर्लिप्त रूप से कह चलता है तो कुशल पाठकों पर असर गहरा पड़ता है। और जब वह पक्ष ग्रहण करके एक वर्ग का प्रति-

[1] देखिए—'काव्य की परख'

निधि बन उसी वर्ग की अच्छाई प्रदर्शित करने पर तुल जाता है तो हमे यह संशय होने लगता है कि इसमे लेखक की शायद निजी रुचि का ध्यान अधिक रखा गया है, कला का ध्यान कम। अन्त-र्वादी-शैली[1] मे लिखे गए नाटकों की संख्या यद्यपि कम नहीं परन्तु उन्हें सफल नाटक कहने में संकोच होगा। अंग्रेज़ी साहित्य में गॉल्स-वर्दी के समस्यात्मक नाटक उच्चकोटि के हैं और उनमे जहाँ तक संभव हो सका है नाट्यकार ने दोनों विरोधी पक्षों का समर्थन बड़ी ख़ूबी से किया है। परन्तु कुशल और चतुर पाठक कुछ भावनाओ के अधिक प्रसार में जान लेते हैं कि लेखक की सहानुभूति किस पक्ष की ओर अधिक है।

जीवन-चित्र

कुछ आधुनिक नाट्यकारों में अन्यान्य नाटकीय विषय न अपना कर केवल प्रतिदिन के जीवन की चुनी हुई घटनाओं को विषयाधार मानकर दृश्यात्मक नाटकों की रचना की है। यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय तो हमे ज्ञात होगा कि हर दिन के जीवन मे हमें ऐसे ऐसे दृश्य दिखलाई देते हैं कि यदि उन्हें हम शब्दों द्वारा चित्रित कर सकें तो वे साहित्य की अमूल्य निधि होंगे। हम सुबह से शाम तक अपने निजी कार्यों मे व्यस्त रहते हैं और यदि कोई कलाकार हमारे भावों और कार्यों को ज्यों का त्यों प्रदर्शित कर सकता तो उस वर्णन को पढ़ कर हमें बरबस बड़ी हंसी आती और बड़ा अचंभा होता। उदा-हरण के लिए आप शाम को बाहर टहल जाइए। कहीं न कहीं पान वाले की दूकान आपको दिखलाई पड़ेगी। दूकान से चार क़दम इधर ही आप खड़े हो जाइए और ख़रीदारो का ताता, उनकी सज धज, उनकी बातचीत, दूकान की सजावट सब पर तीव्र निगाह डाल कर

[1] वही

नाटक का वातावरण प्रस्तुत कर लीजिए। या आप बाज़ार की ओर जाइए। आप देखेंगे कि कहीं पर कोई तरकारी का मोल भाव कर रहा है, कही कोई कुप्पी मे तेल भराए उससे लिपटे हुए तेल को हथेली से काछ कर सर पर रगड़ रहा है; कहीं कोई गाय किसी की टोकरी से मूली के पत्ते घसीटती नज़र आ रही है, कहीं कोई घलुआ माँगने में आध घन्टा झाँव झाँव कर रहा है, कहीं कुंजड़े का तराजू डाड़ी मारते वक्त बरबस टूट रहा है और उसी वक्त कोई ले गरमा गरम पकौड़ियाँ की आवाज़ लगा रहा है। इन दृश्यों को कोई भी कलाकार सजाकर उसे हमारे सम्मुख रख कर हमें आकर्षित कर सकता है। कुछ साहित्यिक मनीषियों का कथन है कि वास्तविक जीवन चित्र काल्पनिक जीवन-चित्र की अपेक्षा अधिक आश्चर्यान्वित करने वाला होता है। अगर कलाकार हिन्दुस्तान के इक्केवालों, तांगेवालों, ठेलेवालों, गाड़ीवालों, रिक्शेवालों, मोटरवालों की आवाज़ ही वास्तविक रूप से शब्द-चित्रों में प्रस्तुत कर ले तो हमें उसे पढ़कर बड़ा आश्चर्य होगा और उतना आश्चर्य परीदेश की एक कहानी पढ़कर शायद न हो। या कोई कलाकार हलवाई के कपड़ों की सतरंगी महक, ठर्रा पीकर गधे पर चढ़े हुए धोबी की लहक, या कुछ चलती हुई दूकानों पर के भीड़ भड़क्के का वास्तविक चित्र खींच दे तो शायद हम लोग हंसते हंसते लोट पोट हो जाय और हमे उन चित्रों की वास्तविकता पर विश्वास भी न हो क्योंकि वास्तविकता काल्पनिकता से कहीं अधिक आश्चर्य में डालने वाली होती है।

दृश्यात्मक नाटकों का प्रमुख उद्देश्य वास्तविक जीवन के प्रति अनुरक्ति अथवा विरोध पैदा करना नही वरन् केवल इसका हास्यपूर्ण दृष्टिकोण उपस्थित करना रहता है। कलाकार एक ऐसे कोण से इन वास्तविक दृश्यों को देखता है कि उसपर मामूली आदमी की निगाह पड़ती ही नहीं और अगर पड़ती है तो बहुत धुंधले रूप मे। मामूली

दर्शकों को पान वाले की दूकान पर केवल चूना, कत्था पान सुपारी का क्रय विक्रय दिखलाई देता है, मगर कलाकार की आँखे उस छैल छबीले ग्राहक की भ्रूभंगिमा को देखती हैं जो पान खाकर, अपने सिर की टोपी ज़रा तिरछी कर दूकान के बड़े आईने मे अपनी शकल देख, मूछें टे, एक हलकी सी मुस्कान फेकने के बाद अपने लाल अंगौछे से अपने जूते को झाड़ने के पश्चात् अपने होठों के कोरों पर लगी पीक को पोंछते पोंछते चल देता है। जिस प्रकार व्यंग-चित्रावली का चित्रकार इंगलिस्तान के भूतपूर्व प्रधान-मन्त्री मिस्टर चर्चिल की गोल गोल, फूली फूली शकल और उसमें चुभा हुआ एक लम्बा सिगार, या महात्मा गाँधी का गोल चश्मा और काछा काछे दुबला पतला शरीर, या जिन्ना साहेब की चुस्त शेरवानी या अपटूडेट सूट, लम्बी लम्बी टाँगें और एक आँख का चश्मा देखता है उसी प्रकार दृश्यात्मक नाटकों का कलाकार जीवन को कुछ ऐसे दृष्टिकोण से देखता है कि हमे अनायास हंसी आजाती है।

इस कथन से कदाचित् यह भ्रम हो सकता है कि दृश्यात्मक नाटकों का उद्देश्य केवल हास्य प्रस्तुत करना है। यह बात सदिग्ध है नाट्यकार का उद्देश्य तो केवल जीवन के दृश्यों की वास्तविकता का अनुभव कराना है अगर उस अनुभव के फलस्वरूप हमें हंसी आजाय तो और भी अच्छा। ऐसे यथार्थवादी साहित्य का एक और उपयोग है वह है हमें अपना स्वयं परिचय मिलना। जीवन मे व्यस्त हम अपने को देख ही नहीं सकते; देख तो वह सकता है जो व्यस्त रहते हुए अपना व्यक्तित्व अलग रख सके। कलाकार यह आसानी से कर सकता है इसलिए हम अपने को समझने के लिए उसका सहारा ढूँढ़ते हैं। 'चौराहा'[1] दृश्यात्मक नाटक का सफल उदाहरण है।

---

[1]देखिए—'सात एकांकी'

प्रचारात्मक विषय

कुछ नाट्यकार अपनी रुचि अथवा प्रतिभा के अनुसार प्रचारात्मक विषय चुनकर भी नाटक रचना कर सकते हैं। यद्यपि ये विषय बहुत कुछ अंशों मे समाज के अन्तर्गत आते हैं फिर भी इनकी एक अलग श्रेणी मान ली जा सकती है। आधुनिक काल मे इन विषयों की बहुतायत है और अनेक कलाकारों ने इन्हें फलप्रद विषय-स्वरूप माना है। इस शताब्दी के दूसरे महायुद्ध के समय प्रचारात्मक साहित्य बहुत अधिक रचा गया और अभी भी कुछ कलाकार इनकी महत्ता कम नहीं समझते। प्रचारात्मक विषय जीवन के प्रत्येक विभाग से संबन्धित रह सकते हैं। परन्तु विशेषतः राजनीतिक विषय ही अधिक रुचिकर रहे हैं। पूंजीवाद के विरुद्ध साम्यवादी आदर्शों का प्रचार, तानाशाही के विरुद्ध जनतन्त्र के आदर्शों की घोषणा, व्यवसायिकता के विरुद्ध सरल तथा प्राकृतिक जीवन-यापन के आदर्शों का प्रचार; हिंसा के विरुद्ध अहिंसा का प्रचार, साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रजातन्त्र शासन विधान के आदर्शों का प्रचार; अनेकानेक विषय चुने जा सकते हैं।

प्रचारात्मक विषयों का उपयोग तो स्पष्ट ही है। लेखक का उद्देश्य इन नाटकों मे अपने प्रचारित वादों मे जनता को आकर्षित करना रहता है; उनका ध्यान सदैव उस श्रेणी के लोगों पर रहता है जिनका मन अपनी ओर खींच लेना उनका वाञ्छित उद्देश्य है। जनता को जागरित कर, उसे किसी आदर्श की ओर अग्रसर कर देना इन नाटकों का स्पष्ट उद्देश्य रहा करता है। आधुनिक काल में अंग्रेज़ी सरकार ने बहुत दिनों तक एक प्रचार-विभाग जारी रखा था जिसका मुख्य उद्देश्य प्रजातन्त्र शासन की महत्ता तथा साम्राज्यवाद की नीव दृढ़ करना था। इस विभाग के आदेशानुसार सामयिक साहित्य की रचना हुई और प्रजातन्त्र की महत्ता, तानाशाही की क्रूरता तथा युद्धस्थल

की नैतिकता की कहानी देश के कोने कोने तक पहुँचाई गई।

प्रचारात्मक नाटकों की रचना मे एक विशेष कला की आवश्यकता है। यह कला है निष्पक्षिता की। जितने ही अधिक निष्पक्ष रूप से विषय का प्रतिपादन होगा उतना ही लेखक सफल मनोरथ होगा। निष्पक्ष रूप से नाटक रचने में कई अड़चने आती हैं। पहला तो है लेखक का व्यक्तित्व। अपने व्यक्तित्व को अलग हटा कर साहित्य लिखना बड़ा दुर्लभ कार्य है। श्रेष्ठ कलाकार ही अपने व्यक्तित्व के पाश से मुक्त होकर समस्याओं की तह तक पहुँच पाए हैं। जहाँ जहाँ व्यक्तित्व साहित्य पर छा गया है वह साहित्य महत्वहीन हो गया है। लेखक को इन प्रचारात्मक नाटकों के सफल प्रयोग में एक ऐसे दृष्टिकोण को अपनाना रहता है जिससे कि कही हुई बात तर्कयुक्त तथा संगत जान पड़े। यदि प्रचार का ध्यान अधिक और संगत तथा तर्कयुक्त प्रतिपादन का ध्यान कम रखा गया तो पढ़े लिखे लोगों पर उनका समुचित प्रभाव न पड़ सकेगा। हाँ अनपढ़ लोगों पर उनका प्रभाव पड़ सकता है पर ऐसे अस्थाई प्रभाव से क्या लाभ। इन नाटकों में भी वाह्यवादी शैली अपेक्षित है।

३

एकांकी के तत्व

कथानक

एकाकी के तत्वों मे सबसे पहले कथानक की गणना है। कथानक हम जीवन के किसी भी विभाग से चुन सकते हैं। इतिहास, लोकगाथा, समाज, मानवी भाव, समस्याएँ जीवन चित्र, प्रचारात्मक विषय-कहीं से भी हम कथानक ढूँढ़ कर उसका नाटकीय उपयोग कर सकते हैं। इस कथानक के चुनने मे लेखक की रुचि ही नहीं वरन उसकी क्षमता भी उसके निर्णय मे सहायक होनी चाहिए। किस विषय के लिए कैसी शैली

अपेक्षित होगी इसका संकेत हम कर चुके हैं। यहाँ सिर्फ़ इसका निर्णय करना है कि कैसे कथानक,एकांकी रचना के लिए विशेष-रूप से फल-प्रद होंगे। यों तो श्रेष्ठ कलाकार के लिए कोई भी कथानक श्रेष्ठ एकांकी लिखने के लिए मान्य होना चाहिए मगर फिर भी अनेक फल-प्रद कथानकों की ओर संकेत किया जा सकता है।

सफल तथा फलप्रद कथानक में कुछ विशेष तत्वों का होना ज़रूरी है। वे तत्व हैं उसकी वास्तविकता अर्थात् साधारण जीवन से सम्बन्ध; उत्तेजना अर्थात् पग पग पर कौतूहल तथा जिज्ञासा की जागृति विस्मय अर्थात् अन्तिम फल को अन्त तक दुविधा में छिपे रहना और रोचकता। रोचकता के अन्तर्गत हम अनेक गुणों का समावेश कर सकेंगे। आनन्द, हास्य तथा चित्त को देर तक आकर्षित रखने की क्षमता हम कुछ विशेष गुण मान सकते हैं। आयरलैण्ड के प्रमुख कवि तथा नाट्यकार विलियम बटलर येट्स से एक अन्य नाट्यकार लार्ड डनसेनी ने पूछा—'आप एकांकी के कथानक का प्रधान गुण क्या समझते हैं? येट्स ने उत्तर दिया—'विस्मय'; डनसेनी ने फिर पूछा—और दूसरा गुण? उत्तर मिला—'विस्मय' और तीसरा गुण? प्रश्नकर्त्ता ने दुहराया, जवाब मिला—'विस्मय'। इससे स्पष्ट है कि जो कथानक विस्मय विहीन हैं वे लेखक के लिए वाञ्छनीय नहीं।

इस सम्पर्क में जो सबसे विवादग्रस्त समस्या खड़ी हो जाती है वह है कथानक की वास्तविकता के संबंध में। यथार्थ और कल्पना का झगड़ा बड़ा पुराना है और यह कहना भ्रम-मूलक है कि यथार्थ और कल्पना दो विरोधी शक्तियाँ हैं। वास्तव में दोनों एक दूसरे की सम-पूरक हैं। कोरी कल्पना का दूसरा नाम प्रमाद है। यथार्थ की भित्ति पर ही कल्पना अपना विशाल महल बनाती है; सपने संजोती है· विविध रंग के वितान तनती है। कलाकार अपनी श्रेष्ठ कला के पीछे यह सत्य इस ख़ूबी से छिपा लेते हैं कि पाठक तथा दर्शक के सम्मुख कल्पना

का ही मायाजाल दिखलाई देता है। यथार्थ मुंह छिपा कर ऐसी आँख मिचौनी खेलता है कि साधारण पाठक उसका पता आसानी से पा ही नहीं सकते। कल्पना अपना इन्द्रधनुष ताने सम्पूर्ण आकाश पर छा जाती है आकाश अपना यथार्थ वायुमण्डल छिपाए कल्पना की सतरंगी अठखेलियाँ देखा करता है। यथार्थ पर वैज्ञानिक की दृष्टि पड़ती है, कल्पना पर कवि की।

अब निश्चय यह होना है साधारण जीवन से संबंधित कथानक फलप्रद होंगे अथवा असाधारण या श्रेष्ठ वर्गों के जीवन से संबंधित। यह झगड़ा भी साहित्यिक रूप से बहुत पुराना है। प्राचीन आलोचकों[1] —पूर्वीय तथा पाश्चात्य-दोनों ने ही श्रेष्ठ श्रेणी के लोगों से संबंधित कथानकों को नाटकों के लिए मान्य समझा है और यदि वे जीवित होते तो एकांकी के लिए भी यही आदेश देते। अरस्तू के अनुसार दुःखान्तकी किसी श्रेष्ठ वर्ग के पात्र द्वारा सम्पादित, एक गंभीर, महत्वपूर्ण, सम्पूर्ण तथा विशाल कार्य है जो भय और करुणा के माध्यम द्वारा हमारी भावनाओं का परिमार्जन करता है। पूर्व के सुःखान्तकी में पात्र राजे हैं, महाराज हैं। इसके विपरीत मारिस मेटरलिंक तथा अन्य प्रगतिवादी तथा यथार्थवादी आलोचकों ने श्रेष्ठ वर्ग के जीवन को नाटक-रचना के लिए अनावश्यक ही नहीं वरन निरर्थक माना है। इनके अनुसार साधारण वर्ग के लोगों के जीवन में, जो हमारे बहुत निकट है, ऐसे फलप्रद स्थल हैं जिनके आधार पर श्रेष्ठ से श्रेष्ठ नाटक की रचना हो सकती है। इस सिद्धान्त से कलाकार के ऊपर उत्तरदायित्व कुछ अधिक बढ़ जाता है। यों तो श्रेष्ठ कलाकार बालू से भी तेल निकाल सकता है परन्तु साधारण कलाकार को रूढ़िवादी होना ही पड़ेगा। जब तक उस की प्रतिभा असाधारण नहीं

[1] देखिए—'दुःखान्तकी खण्ड'

होती कदाचित वह साधारण विषयों में नाटक की आत्मा की प्रतिष्ठा न कर सकेगा। हम साधारण दृश्यात्मक स्थलों की ओर सकेत कर चुके हैं और उनकी रोचकता पर विचार भी कर चुके हैं।। सच तो यह है कि कथानक का चुनाव हमें लेखक की रुचि और उसकी प्रतिभा पर छोड़ना पड़ेगा। परन्तु उससे हम उत्तेजना, विस्मय तथा रोचकता माँगने के हक़दार अवश्य हैं।

उदाहरणार्थ 'माँ' का कथानक साधारण अफ़्रीदी जीवन से लिया गया है। जिसमें यथार्थ का यथेष्ट ध्यान रख कर ही उद्देश्य की पूर्त्ति की चेष्टा की गई है। इस एकाकी में साधारण अफ़्रीदी समाज तथा उसके अन्तर में छिपे हुए कुछ स्थलों की ओर प्रकाश डाला गया है और इस प्रकाश में हमें अफ़्रीदी समाज के दो एक जातीय गुणों के स्पष्ट दर्शन होते हैं। यदि इस उद्देश्य में कथानक सहायता देता है तो उसका चुनाव सफल है। उसी प्रकार 'ठाकुर का घर' में एक साधारण गृहस्थ के क्रान्तिकारी जीवन से सबंधित कथानक चुना गया है। 'मछुए की माँ' का कथानक माहीगीरों के सरल, दीन तथा दरिद्र जीवन से संबधित है। 'बन्दर की खोपड़ी' तथा 'दादा की मौत' का कथानक मध्यम वर्गीय जीवन की ओर दृष्टिपात करता है और 'प्यारे सपने' का कथानक भी उसी जीवन से सम्पर्क रखता है। इन कथानकों में प्रायः सभी, केवल 'दादा की मौत' छोड़ कर, दुःखान्तक हैं और यथासाध्य उनमें कथानक के तीन वांच्छनीय गुणों उत्तेजना, विस्मय तथा रोचकता लाने का प्रयास किया गया है। इन तीनों गुणों का परिपाक किस प्रकार तथा किन साधनों द्वारा किया गया है इसका उल्लेख एकाकियों की अलग आलोचना में ही हो सकता है। परन्तु इसका संकेत अवश्य किया जा सकता है कि 'माँ' में उत्तेजना तथा रोचकता ग़फ़ार की माँ की स्निग्ध ममता तथा अपने-सगे बेटे की मृत्यु की अज्ञानता के द्वारा

ही प्रस्तुत हुई है। वैसे ही 'ठाकुर का घर' तथा 'मछुए की माँ' में उत्तेजना तथा रोचकता गंगा तथा शान्ति के प्रेम और कप्तान डूडिल के क्रूर तथा कुटिल वाद-विवाद के द्वन्द्व-स्वरूप तथा 'मुलिया की माँ' के आग्रह तथा उसके व्यथित हृदय की आशंकाओं की पूर्णता में क्रमशः प्रस्तुत हुआ है। 'बन्दर की खोपड़ी' तथा 'दादा की मौत' मे उत्तेजना और रोचकता की विशेष मात्रा है। 'बन्दर की खोपड़ी' में कदाचित उत्तेजन अतिक्रमण कर गई है और 'दादा की मौत' में रोचकता।[1] यह स्वाभाविक ही है क्योंकि पहले का कथानक तन्त्र-जगत से संबंधित है और दूसरे का प्रहसनात्मक है।

वस्तु

कथानक के चुनाव के पश्चात् हमें उस कथानक को एक ऐसे ढाँचे में ढालना है जिससे हमारे नाटकीय उद्देश्य की पूर्ति हो। जिस प्रकार से लोहे के कारख़ाने कच्चा लोहा गलाकर, उन्हें साचे में ढाल कर चमचमाती हुई रेल की पटरियाँ तथा अन्य उपयोगी औज़ार बना देते हैं अथवा जैसे नानबाई मैदा, ख़मीर तथा साचे और आग के उपयोग से डबलरोटिया प्रस्तुत कर देते हैं उसी प्रकार नाट्यकार कथानक को कांट छाट कर, उसको संवार कर वस्तु का निर्माण कर सकते हैं। कुशल माली वाटिका में घूम घूम कर क्यारियों की मेड़ें ठीक करता है, फुनगियाँ सीधी करता है, पौधे के पास लगी हुई घास को उखाड़ फेंकता है, गुलाब मे क़लमें लगाता है और जाते जाते वाटिका को नया रूप तथा रंग दे देता है उसी प्रकार एकाकी नाट्यकार अपने कथानक-रूपी उद्यान की क्यारियां, पौधे, कलमें काट छाट कर वस्तु का निर्माण करता है। कुछ लेखकों और पाठकों के मन में कथानक तथा वस्तु के अन्तर का अनुभव कठिन जान पड़ता है और वे कथानक

---

[1] देखिए 'सात एकांकी'

और वस्तु को एक ही चीज़ समझने लगते हैं। यह धारणा भ्रम-मूलक है। कथानक वस्तु का जन्मदाता है। वह उसकी भित्ति है। गमले रूपी कथानक का वस्तु प्रस्फुटित पुष्प है।

रङ्ग-स्थल

वस्तु-निर्माण में सब से पहले रंग-स्थल का ध्यान होना चाहिए। रङ्ग-स्थल की अड़चने वस्तु को बहुत कुछ अंशों में सीमित कर देती हैं। जैसा कि हम दुःखान्तकी खण्ड मे देख चुके हैं शेक्सपियर के समस्त नाटक रङ्ग स्थल की अड़चनों पर विजय पाने के लिए अनेक साधनों का सहारा लेते रहे हैं। उसी प्रकार आधुनिक नाट्यकार को भी ऐसी कथा-वस्तु संजोनी चाहिए जिससे रङ्ग-स्थल की कठिनाइयाँ कोई बड़ा अड़चन न डाल सकें। आधुनिक रङ्ग-स्थल इतना सहज तथा प्राकृतिक हो गया है कि उसमें हम कोई असाधारण अथवा कृत्रिम घटनाओं को सफल रूप से प्रस्तुत नहीं कर सकते। पश्चिमी देशों में खुले मैदान मे रङ्ग स्थल की व्यवस्था का प्रचार बहुत ज़ोर शोर से है। बहुत से प्रगति-शील रङ्ग-स्थल तो केवल एक पिछला और एक अगला परदा ही यथेष्ट समझते हैं और जीवन के सभी रोचक प्रसङ्ग वहाँ पर सफलता से प्रस्तुत कर सकते हैं। नाटक की पृष्ठ-भूमि समझाने के लिए रङ्ग-स्थल पर सजाई हुई चीज़ों तथा पात्रों की वेश-भूषा और कथोपकथन का उपयोग साधारणतः आजकल होता है।

ऐतिहासिक कथानकों से ली हुई वस्तु में रङ्ग-स्थल का उत्तर-दायित्व कुछ अवश्य बढ़ जायगा। लेखक को तत्कालीन जीवन का सम्पूर्ण परिचय; वेश-भूषा का ज्ञान; भाषा का ज्ञान तथा सजावट का सम्पूर्ण परिचय होना चाहिए। इस दृष्टि से हमे नाटक-कार की सफलता का माप लगाना होगा। उदाहरण के लिए वस्तु तो है अशोक अथवा

चन्द्रगुप्त के समय से सम्बन्धित और बैठने के कमरे में आजकल की कुर्सियाँ रखी हैं; बिजली का पंखा चलाया जा रहा है और बन्द किया जा रहा है; चाय आ रही है, प्लेटों में रखी हुई, मिठाई नहीं वरन केक और बिस्कुट आ रहा है या महाराज के बाथ-रूम (स्नान-गृह) में पानी के पम्प लगे हुए हैं। या चित्र तो है बौद्धकालीन भारत का और पात्र रङ्ग-स्थल पर चूड़ीदार पाजामा तथा जूते पहने हुए हैं। अथवा मुग़ल-दर्बार के दृश्य मे बिजली के पंखे चलते दिखलाई देते हैं। अथवा दृश्य है एक अत्यन्त ग़रीब घर का मगर बर्तन कुछ तो हैं चादी के, अधिकांश फूल के और एक बैठक भी है जिसमें गद्देदार कुर्सियाँ भी रखी हैं। यह वातावरण वस्तु के, पात्र के तथा देशकाल के हिसाब से असङ्गत है।

साधारण जीवन से सम्बन्धित कथानकों से वस्तु लेने मे निरीक्षण-शक्ति की बड़ी आवश्यकता पड़ेगी। निरीक्षण की क्षमता द्वारा ही वस्तु मे जान पड़ सकती है। इसी शक्ति के उपयोग द्वारा वस्तु के संसर्ग मे आने वाली अनेक चीज़ों पर यथेष्ट ध्यान पड़ेगा। निरीक्षण द्वारा ही प्रत्येक वस्तु मे वास्तविकता की प्राण-प्रतिष्ठा हो सकती है। बाह्य जीवन को वस्तु में समेटने के लिए तो निरीक्षण-क्षमता के अतिरिक्त और कोई दूसरी शक्ति ही नहीं। मनुष्यों का रहन-सहन, आचार-विचार, आदान-प्रदान तथा उनके प्रतिदिन की जीवन-चर्या का समुचित परिचय निरीक्षण-शक्ति द्वारा दिया जा सकता है। इस शक्ति के समुचित प्रयोग से वस्तु की सजावट तथा उसका शृङ्गार हो सकता है और इसी के बल पर हम वस्तु को ऐसा रूप दे सकते हैं जैसा कि हम शायद कल्पना भी न कर सकें। निरीक्षण-शक्ति, वस्तु-रूपी शिशु की सुबोध धाय के समान है जो उसको हर समय, हर जगह क्षति से बचाती चलती है और उसका पोषण करती रहती है। निरीक्षण-क्षमता यों तो सभी तरह के साहित्य निर्माण मे अपेक्षित है

किन्तु नाटक-रचना मे तो उसका स्थान बहुत महत्वपूर्ण है।

भाव-प्राधान्य

वस्तु-निर्माण मे लेखक को केवल एक ही स्थल, एक ही भावना, एक ही स्थिति तथा एक ही भाव अथवा चित्तवृत्ति का प्राधान्य रखना चाहिए, इसी एक-कोणीय प्रदर्शन मे एकाकी की विशेषता है और इसी में उसकी कला है। यदि किसी एकाकी में अनेक स्थलों, अनेक भावों, अनेक चित्तवृत्तियों का सम्मिश्रण है तो वह एकाकी के प्रमुख तत्व की रक्षा नहीं करता और उसमें एकाकी लेखन कला पूर्ण-रूप से प्रस्फुटित न हो पाएगी। एकांकी की महत्ता इसी में है कि वह केवल एक ही भावना अथवा चित्तवृत्ति का उत्तेजनापूर्ण, विस्मय-पूर्ण तथा रोचक प्रदर्शन करे। यदि वह इस आदर्श से गिरता है तो वह किसी भी दृष्टि से सफल नहीं हो सकता। कभी-कभी ऐसा देखा गया है कि कुछ कलाकार वस्तु मे उत्तेजना अथवा रोचकता लाने के लिए भूल से अनेक स्थलों अथवा भावनाओं को एक ही एकांकी में प्रस्तुत कर देते हैं जिसके फल-स्वरूप एकाकी के अन्तिम प्रभाव मे बहुत कमी आ जाती है और दर्शक का ध्यान भटकने लगता है। जब तक एक ही भावना का प्रसार न होगा प्रभाव में सदा कमी रहेगी। एकाकी नाट्यरूपी गीत है। जिस प्रकार गीत का प्राण एक ही भाव-प्राधान्य में रहता है उसी प्रकार एकांकी का प्राण केवल एक ही भावना-विशेष मे निहित रहता है। यह नियम चाहे दुःखान्तकी हो अथवा सुःखान्तकी अथवा प्रहसन सभी के लिए लागू है। इस नियम की उपेक्षा नहीं हो सकती। उपरोक्त नियम के आधार-भूत 'माँ' में वात्सल्य की मर्यादा, 'ठाकुर का घर' मे घर की 'आन' की मर्यादा 'मछुए की माँ' मे माझी के जीवन की दृढ़ता तथा आशंका के द्वन्द्व द्वारा जिस 'वात्सल्य-व्यथा' का जन्म होता है उसका प्रसार; 'बन्दर की खोपड़ी' मे औत्सुक्य का एकाकी प्रसार, 'दादा की

मौत' में सामाजिक तथा पारिवारिक पाखण्ड का प्रदर्शन तथा 'प्यारे सपने' मे कौमार्य जीवन की काल्पनिकता का दिग्दर्शन है।

इसी नियम के सम्बन्ध मे यह भी कहा जा सकता है कि कलाकार की एकाकी में केवल एक भावना के फल-स्वरूप एक ही प्रभाव प्रकट करने मे सलग्न रहना चाहिए। एक भावना के फल-स्वरूप जो प्रभाव प्रकट किया जायगा उससे दर्शक के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ेगा और यदि प्रभाव में अनेकरूपता हुई तो एकांकी अपने आदर्श से गिर जायगी। प्रभाव के अनेक रूप होने के कारण दर्शक का ध्यान बॅटता चला जायगा और अन्त मे उसके हृदय पर कोई स्थायी तथा स्पष्ट प्रभाव नहीं पड़ सकेगा।

सामञ्जस्य तथा समन्वय

कला की दृष्टि से एकाकी लेखक को वस्तु के अनेक भागों पर कड़ा नियंत्रण रखना होगा। इस नियंत्रण के फलस्वरूप ही एकांकी अपने सफल रूप मे विकसित हो सकेगी। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु के जो-जो अंग और जो-जो स्थल लेखक चुने उन स्थलों मे सम्पूर्ण सामञ्जस्य तथा समन्वय होना चाहिए। यदि उसका कोई भी स्थल प्रभाव में अड़चन डाले और पूर्णरूप से एक दूसरे मे समवेष्ठित न हो सके तो उसे निकाल ही फेंकना श्रेयस्कर होगा। क्योंकि जो स्थल अपना व्यक्तित्व, मुख्य स्थल में घुला मिला न देंगे, उन्हें नाट्यकार को अलग से आगे बढाना पड़ेगा और इस कारण एकाकी के प्रभाव मे काफ़ी क्षति पहुँचने की आशंका हो जायगी। यदि कहीं पर, किसी समय भी, नाट्यकार किसी एक अलग स्थल की मनुहार में लग गया तो एकांकी की रूप रेखा बिगड़ जायगी। इसीलिए श्रेष्ठ-कलाकारों का आदेश है कि उसके समस्त अवयवों मे कलापूर्ण एक्य तथा सहज समन्वय होना चाहिए। जिस प्रकार बेलपत्र की तीन पत्तियाँ सदा साथ उपजती हैं, साथ-साथ बढ़ती हैं और साथ ही साथ

शिव के मस्तक पर सुशोभित की जाती हैं उसी प्रकार एकांकी के स्थल एक दूसरे से सहज तथा नैसर्गिक रूप मे विंधे हुए रहना चाहिए।

एकाकी मे इस एक्य तथा समन्वय की स्थापना के साथ लेखक को वस्तु की रूप रेखा पर विशेष ध्यान रखना होगा। एक्य और समन्वय के फलस्वरूप रूप रेखा तो बनती विगड़ती ही है परन्तु यदि लेखक रूप रेखा पर अलग से भी ध्यान देगा तो एकाकी के प्रभाव मे अद्भुत शालीनता आ जायगी। एकांकी के वस्तु की रूप रेखा एक छोटे कथानक-रूपी जलाशय के मध्य में विकसित कमल के समान होनी चाहिए। कमल के नीचे की पंखुड़ियाँ जल पर तैरती रहती हैं, उनके ठीक वीचोवीच से अण्डाकार पखुड़ियों का दर्शन होता है उसी प्रकार वस्तु की आत्मा विकसित होनी चाहिए। उसकी पंखुड़ियों में एक्य और समन्वय के साथ साथ उसकी रूप-रेखा का कमल-रूपी विकास होना चाहिए। उदाहरणार्थ माँ' मे ग़फार की माँ की अविकल प्रतीक्षा अहमद की उतावली; जिरगे के चौकीदारों की सूचना-प्रणाली मे समन्वय तथा एक्य प्रदर्शन करने की चेष्ठा की गई है, 'ठाकुर का घर' मे गगा का मातृत्व, शान्ति का पत्नीत्व, कप्तान डूडिल का शासकत्व तथा उत्तम का व्यक्तित्व—चारों में समन्वय लाने का प्रयास है; मछुए की माँ' मे मुलियां की माँ के आशंकित वात्सल्य तथा धम्मन की निष्ठा और धुलिया की सरल अज्ञानता में सामंजस्य प्रस्तुत करने की चेष्टा है। 'वन्दर की खोपड़ी, मे भैरव की व्यक्त उत्सुकता और जमुना की अव्यक्त उत्सुकता दोनों मे समन्वय का प्रयास है।

ध्यानाकर्षण

वस्तु मे एक्य और समन्वय के अतिरिक्त जो वात सवसे अधिक महत्व की है वह है दर्शकों का ध्यानाकर्षण। यदि दर्शकों का ध्यान आदि से अन्त तक वस्तु के विस्मय तथा उसके संशय-पूर्ण अन्त की

और नहीं रहा तो कोई भी एकांकी सफल नहीं कही जायगी। दर्शकों के ध्यानाकर्षण में एकांकी की नब्बे फीसदी सफलता निहित रहती है। दर्शक शुरू से ही विस्मय और संशय के पास में इतना जकड़ दिया जाय कि अन्त तक उसका छुटकारा न हो सके और एकांकी के पटाक्षेप के बाद भी उसकी आत्मा, विस्मय, संशय तथा उद्विग्नता के सागर में डूबती तिराती रहे। विस्मय तथा संशय के अभ्युत्थान, उसकी प्रगति तथा उसके अन्त के प्रदर्शन में जिस कला की आवश्यकता पड़ती है उतनी कदाचित् एकांकी के अन्य-स्थलों के प्रदर्शन मे नहीं पड़ती। कथानक चुनना सरल है वस्तु समन्वय भी सरल है परन्तु दर्शक के हृदय मे विस्मय के प्रसार द्वारा उसका ध्यानाकर्षण कठिन है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। पहला तो यह कि समस्त दर्शक वर्ग किसी एक ही सामान्य विस्मय भाव से समान-रूप से नहीं प्रभावित हो सकता है। किसी दर्शक को भावात्मक संशय किसी को घटनात्मक संशय, किसी को तार्किक-संशय तथा किसी को कल्पनात्मक संशय प्रिय होता है और सबको समान रूप से प्रभावित करना प्रायः असंभव होता है। हाँ, यह अवश्य है कि कुछ संशय तथा विस्मयपूर्ण स्थल ऐसे भी हो सकते हैं जिससे कि साधारण मानव, मनुष्य की हैसियत से साधारण-रूप से प्रभावित हो सकता है। जिन मनुष्यों की आत्मा तथा आचार विचार अधिक संस्कृत होंगे और जिन्हें साधारणतः उच्चस्तर पर मानव जीवन-विश्लेषण प्रिय होगा वे कदाचित् कल्पनात्मक संशय तथा विस्मय से अधिक प्रभावित होंगे। जिस दर्शक वर्ग में उच्च शिक्षा तथा परिमार्जित भावों की कमी होगी वह साधारणतः घटनात्मक-विस्मय से ही अधिक प्रसन्न होंगे। इस का सबसे सफल प्रमाण सिनेमा संसार से तथा उपन्यास और कहानी लेखकों से मिल सकता है। जिन जिन फ़िल्मों में घटना-चक्र जटिल और साथ साथ आकर्षक नही होता वे अधिकतर जनता को प्रिय नहीं होते। अधिकाश मनुष्य वाहर निकल

कर यह कहते नज़र आते हैं—'इसमें कहानी कोई ख़ास नहीं—वस ऐसा ही वैसा है'। यही दशा उपन्यासों की भी होती है। यदि उपन्यास लेखक घटना-स्थलों में विस्मय कूट कूट कर भर देता है तो उस की रचना बिकती ख़ूब है। यही कारण है कि शायद हिन्दी संसार में 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' की बहुत धूम रही और कदाचित् ही कोई पुस्तक—हाँ तुलसीकृत रामायण तथा गीता छोड़कर इतनी संख्या में बिकी हो। पश्चिमी साहित्य में भी यह बात उसी अंश में लागू होती है जिसका प्रमाण हमें जासूसी उपन्यास लेखकों की सर्व-प्रियता में मिलता है। अंग्रेज़ी साहित्य के प्रमुख जासूसी उपन्यासकार सर आर्थर कोनन डाग्ल, एडगर वालेस, ऑपिनहीम तथा बर्था रक अपने घटनात्मक-विस्मय-पूर्ण कृतियों के फलस्वरूप ही इतने लोक प्रिय रहे हैं। भावात्मक विस्मय, तार्किक विस्मय तथा कल्पनात्मक विस्मय-पूर्ण नाटक केवल परिष्कृत मस्तिष्क वालों को ही प्रिय हो सकते हैं। इसका मुख्य कारण यह है भावनाओं की स्वाभाविकता का समुचित माप, तर्क की प्रियता तथा कल्पना की हृदयग्राहिता किसी ख़ास वर्ग के मनुष्यों में ही मिल सकती है। सारी जनता इस विस्तृत अनुभव से दूर रहती है। इसी कारण जिन नाटकों में भावों का परिष्कृत रूप मिले, तर्क का प्रसार हो और कल्पना की उड़ान हो वे लोकप्रिय नहीं हो सकते। लोकप्रियता के लिए घटनाओं का चक्रव्यूह चाहिए जिसमें पग पग पर संशय और विस्मय का प्रसार हो। कुछ संसारी लेखक और फिल्म-निर्माता मध्यवर्ती मार्ग भी अनुसरण करते हैं जिसके द्वारा वे जनता को कुछ अंश में प्रसन्न करते हैं और कुछ अंश में कला की रक्षा भी करते हैं। जब तक जनता में साक्षरता तथा शिक्षा का अधिक प्रसार न होगा और जब तक समाज का मस्तिष्क परिष्कृत न होगा श्रेष्ठ साहित्य की रचना में सदैव कमी बनी रहेगी। उपरोक्त विश्लेषण के उदाहरण-स्वरूप हमें 'माँ' में भावात्मक

विस्मय, 'बन्दर की खोपड़ी' तथा 'दादा की मौत' में घटनात्मक विस्मय तथा 'प्यारे सपने' में कल्पनात्मक विस्मय मिलेगा। 'मछुए की माँ' तथा 'ठाकुर का घर' में भावात्मक तथा घटनात्मक विस्मय के सम्मिश्रण का प्रयास है।

४

वस्तु-निर्माण

निरूपण

एकाकी लेखन में कलाकार को जो सबसे बड़ी कठिनाई झेलनी पड़ती है वह वस्तु निरूपण से संबंध रखती है। यदि यह कठिनाई दूर हो जाती है तो बहुत कुछ अंश में एकाकी सफल होगी। साधारणतः वस्तु-निरूपण के चार भाग होते हैं परन्तु तीसरा और चौथा भाग इतना मिला-जुला रहता है कि साधारण पाठकों के लिए उसका स्पष्टीकरण कठिन ही नहीं वरन असंभव हो जाता है। मूल रूप में तो प्रत्येक एकाकी की वस्तु मे आदि, मध्य तथा अन्त का होना अनिवार्य है। जिस प्रकार दुःखान्तकी तथा सुःखान्तकी खण्ड में हम वस्तु के 'आदि' की महत्ता, 'मध्य' की विशेषता तथा 'अन्त' का प्रभाव देख चुके हैं उसी प्रकार एकाकी में भी मूल-रूप से वही सिद्धान्त मान्य है। बिना इन तीनों के न तो एकाकी की रूप रेखा बन सकती है और न वे रोचक ही हो सकते हैं।

वस्तु-निरूपण के चार भागों में क्रमानुसार निरूपण, अवरुंधन, उत्कर्ष तथा अपकर्ष की गणना होती है। निरूपण का मुख्य कार्य है दर्शकों को नाटकीय पृष्ठभूमि तथा नाट्य-स्थिति का परिचय देना। इस भाग को देखते ही दर्शकों को यह निश्चय हो जाना चाहिए कि परिस्थिति क्या है और मुख्य पात्र पात्री कौन हैं। बिना परिस्थिति-ज्ञान तथा मुख्य पात्र अथवा पात्री से परिचय पाए हुए दर्शक का न तो

ध्यानाकर्षण होगा और न संशय और विस्मय का ही बीजारोपण हो सकेगा। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि नाट्यकार एकाकी के आदि भाग में शीघ्र से शीघ्र निरूपण द्वारा नाटक की परिस्थिति का यथेष्ट परिचय दे। हाँ, यह हो सकता है कि परिचय सम्पूर्ण न हो, मगर इतना तो अवश्य होना चाहिए कि दर्शक यह जान लें कि पृष्ठ-भूमि क्या है और कैसा कथानक उनके सामने प्रस्तुत होने वाला है। इस जानकारी मे नाट्यकार को काफी सहायता देनी चाहिए। परन्तु निरूपण भाग के लिए जो सब से महत्त्पूर्ण बात है वह है निरूपण की स्वाभाविकता तथा संक्षिप्त संकेत। वस्तु का ढाचा इतना छोटा और उसका विस्तार इतना संकुचित होता है कि निरूपण-भाग में विस्तार-पूर्वक लेक्चर बाज़ी तथा विस्तृत विश्लेषण का न तो सावकाश ही रहता है और न उसकी उपयोगिता। इसके साथ ही साथ ध्यानाकर्षण का अलग आग्रह जिसके ऊपर एकाकी का सम्पूर्ण-भार रहता है। इन प्रश्नों को सामने रखते हुए नाट्यकार को एकांकी के 'आदि' भाग में परिस्थिति का ज्ञान करा देना चाहिए।

परस्थिति का परिचय देने में प्रासागिक-पृष्ठ-भूमि का भी विशेष स्थान होना चाहिए। प्रासागिक पृष्ठ-भूमि से तात्पर्य परिस्थिति से संबन्धित, उन छिपे हुए स्थलों अथवा भावों का परिचय है जो एकांकी में स्पष्ट रूप से नही बताए गए हे मगर उनकी छाया सम्पूर्ण नाटक पर है। निरूपण खण्ड में ही यह बताना आवश्यक है कि पहले क्या क्या हो चुका है अथवा कौन सी घटना घट चुकी होगी अथवा कौन कौन से भावों का विस्तार रहा होगा। जिस प्रकार चित्रकार सूर्योदय का चित्र चित्रित करने मे सूर्य की रश्मियों के पीछे उषा की लालिमा और उषा की लालिमा के पीछे बादलों की अथवा अन्धकार की रेखाओं का भी धुंधला प्रदर्शन रख देता है उसी प्रकार एकाकी नाट्यकार निरूपण के पहले के छिपे हुए स्थलों का संकेतात्मक परिचय

देता है जिससे वस्तु के समझने में आसानी होती है। परन्तु इसमें भी बड़ी स्वाभाविकता होनी चाहिए और अत्यन्त संक्षेप में—दो ही एक कथोपकथन द्वारा-परोक्ष के स्थलों को स्पष्ट कर देना चाहिए। विस्तृत भूमिका घातक होगी, लम्बे कथोपकथन अरुचिकर तथा अस्वाभाविक होंगे, और एकांकी इन कमज़ोरियों से उभर न पाएगी। उदाहरण से यह नियम और स्पष्ट हो जायगा। 'माँ' में यह बतलाना आवश्यक है कि ग़फार की माँ, ग़फ़ार की इन्तज़ार में है, ग़फ़ार बाहर गया हुआ है, बुढ़िया का केवल वही सहारा है, वह उसी की प्रतीक्षा में उतावली है। इस तथ्य का संकेत पहले ही वाक्य में होता है—

"कौन ? कौन है ? (पास आकर) अहमद ! अरे तू ! इस वक्त कैसे ? मैंने तो तेरी आहट भी न पाई। मैं समझी कि कहीं ग़फ़ार तो नहीं चुपके से चला आया। मैं तो डर गई।" [1]

इसके साथ साथ ही यह भी आवश्यक है कि वस्तु के प्राण की ओर संकेत कर दिया जाय और अत्यन्त संक्षिप्त तथा संकेतात्मक शब्दों, मुहावरों अथवा भावों द्वारा यह बतला दिया जाय कि शायद अन्त में वस्तु का अमुक स्वरूप होगा। इसी ध्येय की पूर्ति के लिए अहमद कहता है—"माँ ! तुम मुझे आज से अपना बेटा समझो।" और ग़फ़ार की माँ अपने दुर्भाग्य से अपरिचित, स्वाभाविक रूप से कह बैठती है—"तो साफ़ क्यों नहीं कहता कि खून कर आया है ? कौन अभागा था वह ?" दुर्भाग्यात्मक संकेत का 'अभागा' बड़ा सफल उदाहरण है। इसी प्रकार 'ठाकुर का घर' में यह जताना आवश्यक है कि गंगा और शान्ति उत्तम की प्रतीक्षा मे है। उत्तम किसी अत्यन्त रहस्य-पूर्ण अथवा गुप्त कार्य से बाहर है और यह परिचय भी

---

[1] देखिये—'सात एकांकी'

आवश्यक है कि एकांकी आगे क्या स्वरूप ग्रहण करेगी; उसका भी नितान्त संक्षिप्त संकेत वाँच्छनीय है। इसीलिए गंगा पहले ही वाक्य मे कहती है—"बाहर तो जैसे तूफान खड़ा हो मालूम होता है जैसे 'घर' ही ढह पड़ेगा" इसके बाद ही एक ही वाक्य में वह अपना अपरिचित दुर्भाग्यात्मक संकेत दे बैठती है—"मुझे तो दूर तक अँधियाला ही अँधियाला दिखाई पड़ता है"। "उसने तो कहा था कि जब दरवाज़ा खटके तभी लालटेन रखना"।[१] तात्पर्य यह है कि लेखक को शीघ्र से शीघ्र, संक्षिप्त से संक्षिप्त रूप में, संकेतात्मक शैली द्वारा पूर्व-परिस्थिति का ज्ञान करा देना चाहिए। पूर्व-परिस्थिति-ज्ञान मे कथोपकथन ही प्रधानतः सहायक होता है और रंगस्थल पर प्रमुख पात्रों की या तो उपस्थिति आवश्यक है अथवा अन्य पात्रों द्वारा उनका परिचय। कथोपकथन के स्वरूप का हम आगे विवेचन करेंगे।

अवरुंधन

एकांकी के अवरुंधन खण्ड मे नाट्यकार को नाटकीय स्थलों अथवा नाटकीय भावों अथवा पात्रों को द्वन्द्व-स्वरूप प्रस्तुत करना चाहिए। नाटकीय स्थलों के प्रदर्शन में संशय और विस्मय का केवल बीजारोपण होना चाहिए और इस स्थान पर दो स्थलों अथवा दो भावों, अथवा दो विचारों, अथवा दो पात्रों, अथवा दो पात्र वर्गों को स्वाभाविक रूप से अवरुंधन में डाल कर नाटक की प्रगति करनी चाहिए। यदि कलाकार चाहे तो अन्य पात्रों का भी परिचय इस खण्ड मे दे सकता है। परन्तु उसका मुख्य ध्येय होना चाहिए विस्मय का भविष्य मे प्रसार और दर्शकों का ध्यानाकर्षण। अवरुंधन मे कभी कभी भय इस बात का रहता है कि नाटकीय स्थल कहीं इतने जटिल तो नहीं हो गए जो शीघ्र सुलझ न पाएँ और नाटक का अन्त करने के

---

[१] वही

लिए ज़बरदस्ती किसी पात्र को या तो जन्म देना पड़े या किसी को मारना पड़े या आत्महत्या करानी पड़े। अनेक एकांकियों मे लेखक एक अथवा अनेक अपरिचित पात्र इतनी देर मे रंग-स्थल पर प्रस्तुत करते हैं कि उनका संबन्ध न तो पृष्ठभूमि से रहता है, न मुख्य पात्रों से और वे केवल एकांकी को अस्वाभाविक रूप से अन्त कराने मे प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार का वस्तु-निर्माण दोषपूर्ण होगा और एकांकी सफल न हो पाएगी।

अधिकतर देखा गया है कि एकांकी के निरूपण भाग तथा अवरुंधन भाग मे समय का अन्तर नहीं के बराबर होता है और दोनों एक दूसरे से बिलकुल मिल जुल जाते हैं और हम दोनों भागों को स्पष्ट-रूप से देख नहीं पाते। इसका कारण है एकांकी का संकुचित क्षेत्र और उसका सीमित विस्तार। ज्यों ही निरूपण आरंभ हुआ त्योंही अवरुंधन भी शुरू हो जाता है और ज्योंही दोनों स्थलों का मिश्रण हुआ त्योंही उत्कर्ष अथवा तीसरा भाग आरम्भ हो जाता है। उदाहरणार्थ 'माँ' में अवरुधन, निरूपण के थोड़ी देर बाद ही आरम्भ हो जाता है—

"अहमद—कही भी पनाह दो; देर न करो; मेरा दम घुट रहा है; वे सब आते ही होंगे।

ग़फार की माँ—कौन आता होगा ? ग़फ़ार ? हाँ बड़ी देर हुई ! उसे आना ही चाहिए।

अहमद—नहीं माँ, जिरगे के सिपाही। वे बहुत दूर न होंगे, उन्होंने मुझे इधर भागते भी देखा है।...

ग़फ़ार की माँ—तो तेरी जिरगे के सिपाहियों से ठनी है, बड़ा बहादुर बना है।"

दो पात्रों में कथोपकथन के मध्य में ही तीसरी होने वाली घटना का परिचय अवरुंधन की पहली सीढ़ी है। उसी प्रकार 'ठाकुर का

घर' में अवरुंधन का स्पष्ट आरम्भ उत्तम करता है—

"उत्तम—'देख शान्ती, अगर कोई आवे भी तो ख़बरदार ज़बान से एक शब्द भी न निकले, नहीं तो सब चौपट हो जायगा और कुछ हाथ न लगेगा। फ़ौजी बात निकालने में बड़े होशियार होते हैं। वे कुछ उठा न रखेंगे..."

यद्यपि अवरुंधन का प्रथम संकेत गगा देती है—

"ले बेटा खाता जा और तापता जा। फिर थोड़ा आराम कर ले तब जाना।"

"बेटा! जब आग में हाथ दिया तो फफोलों का क्या डर।"

'मछुए की माँ' में अवरुंधन काफ़ी देर में प्रदर्शित होता है जिसका सकेत यद्यपि पहले अनेक पात्र करते हैं मगर स्पष्टीकरण मुलिया की माँ ही करती है—

"अपनी ही करोगे, देख तो लो तूफान घिरा आ रहा है; ऐसा ही तूफ़ान धन्नू को ले गया था।"

जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर आए हैं अवरुंधन में भी जितने भविष्य के लिए संकेत हो उतना ही अच्छा। मगर वे केवल रहस्यात्मक संकेत होने चाहिए—स्पष्ट कभी भी नहीं। ये रहस्यात्मक संकेत जिनके उदाहरण हम गिना चुके हैं इतने स्वाभाविक और सहज रूप मे आने चाहिए कि उन पर मामूली दर्शक का आसानी से ध्यान आकृष्ट न हो परन्तु चतुर दर्शक इशारा पा जाँय कि शायद एकांकी अमुक प्रकार से अन्त होगी।

उत्कर्ष

अवरुंधन के पश्चात् उत्कर्ष तथा अपकर्ष की गणना होती है। उत्कर्ष भाग में भावों का अथवा विचारों का, अथवा नाटकीय स्थलों का, अथवा पात्र और पात्र वर्गों का द्वन्द्व एक अत्यन्त ऊँचे स्तर पर प्रदर्शित किया जाता है। भावों का वहाँ चरम विकास होता है; भाव

अथवा भाव-समूह उस चरम स्तर पर पहुँच कर निम्नगामी होते हैं। उस उच्चशिखर पर पहुँच कर, क्योंकि उसके आगे विस्तार कठिन है या है नहीं, भाव समूह स्वाभाविक रूप से उतार पर आ जाते हैं। जिस प्रकार आतशबाज़ी में जब अनार छूटता है तो पहले छुर्र्र्र् की आवाज़ होती है और वह आवाज़ धीरे-धीरे ज़ोर पकड़ती जाती है और ऊँचे उठती जाती है और थोड़ी ही देर में आकाश में पटाख़ का तुमल नाद होता है और ठीक उसके बाद ही प्रज्ज्वलित तारिकाओं का फौआरा छूटने लगता है जो धीरे-धीरे धुँधले होकर अधकार में विलीन हो जाते हैं। उसी प्रकार एकाकी का भी प्रदर्शन होता है। तुमुलनाद में ही उसका उत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है और धुंधलेपन में उसका अपकर्ष।

उत्कर्ष मे सब से आवश्यक बात यह है कि उत्कर्ष स्वाभाविक हो और उसकी प्रगति, निरूपण और अवरुंधन के स्थलों से होती हुई भावों की चरम सीमा की ओर अग्रसर हो। जिस प्रकार किशोरा-वस्था से बालक अथवा बालिकाएँ युवावस्था को प्राप्त होती हैं उसी प्रकार सहज रूप में भावों का उत्कर्ष प्रदर्शित होना चाहिए। एकांकी में विशेषतः एक ही भाव-प्राधान्य हम सैद्धान्तिक रूप से मान आये हैं। और यह सिद्धान्त हितकर भी है। परन्तु जहाँ अनेक भाव हों उनमें से सबसे महत्व-पूर्ण भाव को ही आगे बढ़ाना चाहिए और अन्य भावों को नीचे स्तर पर छोड़ देना चाहिए। यदि अनेक भाव उच्चस्तर पर आने की चेष्टा करेंगे तो जैसा हम पहले कह चुके हैं एकाकी के प्रभाव में कमी आएगी और उसकी रूप रेखा विकृत हो जायगी। भाव-प्राधान्य और उत्कर्ष का बड़ा घनिष्ठ संबन्ध है।

साधारणतः उत्कर्ष दो प्रकार का हो सकता है—आन्तरिक अथवा बाह्य। आन्तरिक उत्कर्ष में भावनाओं की प्रधानता होगी, बाह्य उत्कर्ष में घटनाओं की। कभी कभी दोनों एक साथ ही रह

सकते हैं। परन्तु जैसा हम पहले कह चुके हैं भावोत्कर्ष केवल कुछ ही दर्शकों को प्रिय होंगे क्योंकि उसके समझने और उसका आनन्द ग्रहण करने के लिए परिष्कृत मस्तिष्क की आवश्यकता पड़ती है। घटनात्मक उत्कर्ष साधारणतः लोकप्रिय होता है और जनता उसका आनन्द सरलता से ग्रहण कर लेती है। उदाहरण के लिए 'माँ', 'मछुए की माँ' 'प्यारे सपने' तीनों में भावात्मक तथा आन्तरिक उत्कर्ष प्रधान है और 'दादा की मौत' तथा 'बन्दर की खोपड़ी' में घटनात्मक तथा बाह्य उत्कर्ष प्रदर्शित है। 'माँ' मे भावना का उत्कर्ष ग़फ़ार की माँ के कथन द्वारा प्रदर्शित है—

"ग़फ़ार की मा—हैं! अहमद? अहमद! या अल्लाह!"

'ठाकुर का घर' मे गंगा का कथन इसका द्योतक है। मगर उसमें घटनात्मक उत्कर्ष का भी सम्मिश्रम है—"गगा—तुझे शर्म नहीं आती, औरतों के मुंह लग रहा है......देर क्यों! मेरे जीते जी ठाकुर के घर की आन नहीं मिट सकती, नहीं मिट सकती।" तथा 'डूडिल—हज़ारा! दे दो इस बुड्ढी को इसका बेटा का लाश।"[1]

अपकर्ष

एकांकी के उत्कर्ष तथा अपकर्ष में वैसा ही घनिष्ठ तथा जटिल संबंध है जैसा निरूपण तथा अवरुंधन में होता है। जिस प्रकार निरूपण भाग तथा अवरुंधन खण्ड एक दूसरे से घुल मिल जाते हैं वैसे ही उत्कर्ष तथा अपकर्ष खण्ड में भी स्वाभाविकतः मिश्रण हो जाता है। अधिकतर एकांकियों मे तो उत्कर्ष तथा अपकर्ष बिलकुल साथ साथ होता है—ज्योंही उत्कर्ष की भावना प्रकट हुई उसी क्षण अपकर्ष का आरंभ हो जाता है। यह स्वाभाविक ही है कि जब उत्कर्ष अपनी चरम सीमा पर हो तभी से अपकर्ष का भी प्रारभ हो जाय।

---

[1] देखिए—'सात एकांकी'

अपकर्ष खण्ड में एकांकी वस्तु की अन्तिम अवस्था का परिचय देती है। दर्शक उसमें एकांकी का अन्त और सम्पूर्ण कथानक, वस्तु तथा अवरुंधन की गुत्थियाँ सुलझती हुई देखता है। पटाक्षेप के पहले ही दर्शक जान लेता है कि मुख्य पात्र अथवा पात्री मुख्य भावना अथवा विचार का अन्तिम स्वरूप क्या हुआ। उसे यह पूर्णतया बोध हो जाता है कि अन्तिम भावना दुःखान्तक है अथवा सुःखान्तक। नायक की सफलता अथवा विफलता, प्रेम की विजय अथवा पराजय, दुःख का निराकरण अथवा प्रसार, इसी खण्ड में दर्शक को ज्ञात हो जाता है। अपकर्ष एकांकी ही का अन्त नहीं वरन विस्मय का भी अन्त प्रस्तुत करता है जिसके सहारे उसकी प्रगति हो रही थी। अपकर्ष खण्ड का प्रधान गुण स्वाभाविकता तथा मनोवैज्ञानिक सत्यता है।

स्वाभाविकता यों तो एकाकी के सभी तत्वों में वाञ्छनीय है परन्तु अपकर्ष खण्ड मे लेखक की ज़िम्मेदारी और भी बढ़ जाती है। यदि अपकर्ष स्वाभाविकता के आदर्श से गिरता है और अस्वाभाविक रूप से एकांकी का अन्त होता है तो एकांकी निम्नकोटि की होगी। स्वाभाविकता से तात्पर्य वस्तु की सहज रूप से प्रगति और चरित्र चित्रण की सत्यता से है। अधिकतर ऐसा होता है कि लेखक पात्रों के नैसर्गिक कार्यों द्वारा अपने ध्येय की पूर्त्ति नहीं कर पाता है और अपकर्ष का खण्ड आते आते उसकी कल्पना अथवा निरीक्षण शक्ति अस्थिर हो जाती है और वह उतावली मे आकर पात्रों से अस्वाभाविक बातें कहला बैठता है और घबराहट में एकांकी का अन्त कर देता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि एकांकी अपकर्ष पर आ तो गई मगर लेखक को अभी बहुत कुछ कार्य पात्रों से कराना है अथवा उसे किसी आदर्श का प्रतिपादन करना है अथवा किसी भावना को और भी स्पष्ट अथवा तीव्र करना है जिसके फल-स्वरूप वह एकाकी को बढ़ाता जाता है; पात्रों से अनर्गल संवाद कराता रहता है, नए विषय जोड़ता रहता है

और ऊव कर कहीं न कहीं एकांकी पर पटात्तेप डाल ही देता है। ये अवगुण वड़े घातक हैं।

अपकर्ष के वाद एकांकी पर पटात्तेप डालना और प्रधान भावना का स्पष्टीकरण कलापूर्ण कार्य है। पटात्तेप डालने की कला सरल नहीं उसके साथ ही साथ दर्शकों पर वाञ्छित प्रभाव; एकांकी का स्पष्ट प्रयोजन, चरित्र चित्रण का उत्कर्ष सभी का समुचित प्रसार होना चाहिए। कलाकर को यह जानना नितान्त आवश्यक है कि कहाँ पर, किस स्थल पर, किस संवाद पर, किस घटना पर तथा किस प्रभाव पर एकांकी का अन्त पर देना चाहिए। लेखनी रोकने की कला, लेखनी चलाने की कला से कहीं महत्वपूर्ण है। कला का व्यक्तित्व भावनाओं तथा उनके स्पष्टीकरण के निग्रह में प्रस्फुटित होता है। ज्योंही वांञ्छित भावना तीव्र हो जाय, ज्योंही स्वाभाविक रूप से वह अपने उच्च शिखर पर पहुँचे त्योंही पटात्तेप होना चाहिए और एकाकी समाप्त होनी चाहिए। कोई और वात कहने, अथवा कुछ और भाव दर्शाने के लोभ को अवश्य संवरण कर लेना चाहिए। इसी में एकाकी की सहज सफलता है। इसी सिद्धान्त के अनुरूप 'माँ' मे ज्यों ही ग़फार की माँ जान लेती है कि उसके वेटे ग़फ़ार का हत्यारा अहमद है और उसको वह निराश्रय नही कर सकती पटात्तेप हो जाता है। 'ठाकुर का घर' मे उत्तम के मृत शरीर के आते ही एकांकी समास होती है, 'मछुए की माँ' में घम्मन के मृत्यु की सूचना आते ही पटात्तेप पड़ता है तथा वन्दर की खोपड़ी' मे तीसरे वरदान के माँगते ही परदा गिरता है और चन्द्रमा की शुभ्र रश्मियाँ रंग-स्थल पर विखर जाती हैं।

वस्तु निर्माण के उपरोक्त विश्लेषण से यह प्रमाणित है कि निरूपण, अवरुंधन, उत्कर्ष तथा अपकर्ष के स्थलों में पूर्ण सामंजस्य होना चाहिए। निरूपण खण्ड मे जितना विस्मय होगा, अवरुंधन भाग मे जितना संशय होगा, उत्कर्ष भाग में जितना द्वन्द्व होगा, अपकर्ष खण्ड मे

जितनी स्वाभाविकता होगी उतनी ही एकांकी श्रेष्ठ होगी। लेखक को वस्तु निर्माण में नाटकीय पात्रों का समतुलन; घटना की संशयात्मकता अथवा भाव-विस्मय; परिस्थिति का ज्ञान तथा पूर्व-परिस्थिति का परिचय संकेतों द्वारा, संवाद द्वारा तथा रंगस्थल की सजावट द्वारा समुचित रीति से देना चाहिए। लेखक अपनी इच्छानुसार समस्यात्मक एकांकियों का हल प्रस्तुत कर सकता है, अथवा अपने उत्तर को गोपनीय रख सकता है, परन्तु यह नितान्त आवश्यक है कि वह वस्तु-निर्माण में उत्कर्ष का बराबर ध्यान रखे और अपकर्ष में अस्वाभाविकता न आने दे।

चरित्र-चित्रण

एकाकी लेखक की विशेष कला चरित्र-चित्रण तथा संवाद में साधारणतया विकसित होती है। चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता, निष्पक्षता, सहानुभूति तथा काल्पनिकता बहुत कुछ अंशों में एकाकी की सफलता की उत्तरदायी है। प्रत्येक पात्र जो रंग स्थल पर प्रस्तुत किया जाय उसका अलग व्यक्तित्व, अलग स्वत्व तथा अलग उत्तरदायित्व होना चाहिए। यह सिद्धान्त नायक के चरित्र-चित्रण में विशेषतः और अन्य पात्रों में साधारणतया लागू है। नायक का व्यक्तित्व जितना स्पष्ट होगा उतना ही एकाकी प्रभावपूर्ण होगी। जितने निष्पक्ष रूप से उसका कार्य-क्रम प्रदर्शित किया जायगा उनना ही उसका कार्य सन्तोषप्रद तथा स्वाभाविक होगा और जितनी सहानुभूति तथा स्वाभाविकता से उसके भावों की प्रगति होगी उतने ही उसमें साहित्यिक अमरत्व के गुण विकसित होंगे। कुछ लेखक भावनाओं के उत्कर्ष में इतने वह जाते हैं कि उनका चरित्र-चित्रण या तो स्वाभाविकता का अतिक्रमण करने लगता है या ऐसे स्तर पर पहुँच जाता है जहाँ कल्पना भी हार मान जाती है। स्वाभाविक चरित्र-चित्रण का सबसे सरल तथा सहज उपाय है निरीक्षण। जितना ही लेखक का निरीक्षण तीव्र होगा,

जितनी ही उसकी आँखें मंजी हुई होंगी, जितना ही उसका अनुभव व्यापक होगा उतना ही चरित्र-चित्रण प्रभाव पूर्ण तथा सन्तोष-दायी होगा।

चरित्र-चित्रण यदि अनुभव और स्वाभाविकता की कसौटी पर खरा नहीं उतरता तो मुख्य पात्र तथा अन्य पात्र अथवा पात्रियों में विभिन्नता भी नहीं आएगी जिसके फल-स्वरूप न तो पात्रों का सम-तुलन ही होगा और न वे आकर्षक ही होंगे। इस अभाव मे वे सब धुंधले और अस्पष्ट व्यक्तित्व लिए अवतरित होंगे और दर्शकों पर उनका प्रभाव भी धुंधला, अस्पष्ट तथा हीन होगा। अनुभवात्मक निरीक्षण तथा स्वाभाविकता पात्र-निर्माण के प्राण-स्वरूप हैं। बिना मनोवैज्ञानिक ज्ञान के भी पात्र निर्माण खोखला होगा और हम पात्रों की सत्यता पर विश्वास न कर पाएँगे। मनोविज्ञान हमे मानव-जीवन की भूल-भुलइयों से परिचित कराता है। जीवन के छिपे हुए-भाव-स्तरों पर प्रकाश डाल कर हमें पार्थिव शरीर के पीछे छिपे हुए मानव-हृदय का मनोविज्ञान परिचय देता है और नाट्य-कार जितना ही इस ज्ञान को अपनी साहित्यिक कृतियों में समो देता है उतना ही वह श्रेष्ठ कलाकार है। जिस प्रकार अनुवीक्षण यन्त्र छोटे से छोटे कीटाणुओं का चित्र खीच देता है उसी प्रकार नाट्यकार का मनो-वैज्ञानिक ज्ञान मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क की धमनियों का प्रदर्शन देता है। इसी में उसकी श्रेष्ठता है; इसी में उसकी अमरता है।

पात्र-वैचित्र्य तथा चरित्र में विभिन्नता लाने के लिए कुछ सरल मन्त्र हैं जो महान कलाकारों की कृतियों के अध्ययन द्वारा प्रमाणित है। पहला मन्त्र है चित्रवृत्ति। पात्रों की चित्रवृत्ति अथवा प्रवृत्ति द्वारा विभिन्नता सरलता से लाई जा सकती है। अन्योन्याश्रित चित्र-वृत्ति मे भी विभिन्नता प्रकट होती है। कौन सा पात्र अमुक पात्र के लिए कैसी प्रेरणा तथा कैसा विचार रखता है और अमुक पात्र किसी

विशेष पात्र के लिए कैसे भाव रखता है इस तथ्य के प्रदर्शन में विभिन्नता अपने आप ही आ जाती है।

व्यक्ति-विशेष की ओर चित्त-वृत्ति के साथ साथ घटनाओं की ओर जो मानसिक प्रतिक्रिया हुआ करती हैं उसके फल-स्वरूप भी पात्र-वैभिन्य प्रदर्शित हो सकता है। अमुक पात्र एक घटना-विशेष को किस दृष्टि से देखता है इसी में विभिन्नता के लक्षण स्पष्ट हैं। एक ही प्रकार की घटना अनेक पात्रों मे एक ही प्रकार के भाव नहीं उकसाती; कुछ उसमें लिप्त हो जाते हैं, कुछ निर्लिप्त रहते हैं कुछ दुःखी होते हैं; कुछ आनन्दित होते हैं तथा कुछ मिश्रित भावों को प्रकट करते हैं। यदि कलाकार इन विभिन्न प्रतिक्रियाओं को समझ कर उनका स्वाभाविक तथा नाटकीय प्रयोग करता है तो उसकी एकाकी पात्र-विभिन्नता से आभूषित होगी और उसका चरित्र-चित्रण हृदय-ग्राही होगा।

अधिकाश लेखक, संवाद की विशेषता द्वारा चरित्र-चित्रण मे विभिन्नता ले आते हैं। यह साधन बहुत सरल है। जैसा हम प्रहसन खण्ड मे देख चुके हैं सवाद में तकिया कलाम की बहुत लोक-प्रियता रही है। कोई पात्र कोई विशेष शब्द अथवा शब्द-समूह मौक़े बे मौक़े बोलता रहता है और अपनी इस विचित्रता के कारण हास्य प्रस्तुत किया करता है। इसी विशेषता के द्वारा वह अन्य पात्रों से अलग पहचाना जा सकता है। उदाहरण स्वरूप 'ठाकुर का घर' में डूडिल ऐंग्लो इन्डियन की हिन्दी बोलता है 'चौराहा' मे देहाती, देहाती हिन्दी बोलता है। भाषा मे अपभ्रंश रूपो के प्रयोग द्वारा भी पात्रों मे अच्छी विभिन्नता आ सकती है। इसके साथ बोली के स्तर और उच्चारण की विभिन्नता द्वारा भी पात्र-वैचित्र्य प्रदर्शित हुआ है। हकलाने वाले व्यक्ति, हिचकने वाले व्यक्ति रुक रुक कर बोलने वाले पात्र, जल्दी जल्दी संवाद करने वाले पात्र, नाक से बोलने वाले पात्र, शाही

उच्चारण से बोलने वाले व्यक्ति एकांकियों में पात्र-वैचित्र्य के साधन रहे हैं।

चरित्र-चित्रण का सबसे महत्व-पूर्ण अंग होता है चरित्र का स्वाभाविक विकास। यदि चरित्र का विकास नैसर्गिक रूप से नहीं होता तो एकाकी कभी भी प्रभावोत्पादक नहीं होगी। साधारणतयः देखा गया है कि लेखक पात्रों में अस्वाभाविक परिवर्त्तन प्रदर्शित करने लगता है—क्रूर दानी बन जाता है, दानी क्रूर बन जाता है द्रोही राज्य-भक्त बनता है और राज्य-भक्ति विद्रोह में परिणत हो जाती है। इससे यह तात्पर्य नही कि पात्रों में परिवर्त्तन आवे ही नहीं। पात्रों में परिवर्त्तन होना अवश्य चाहिए परन्तु उस परिवर्त्तन-प्रदर्शन की तैयारी पहले से होनी चाहिए। ऐसा कभी नहीं होना चाहिए कि अकारण ही दानी क्रूर हो जाय। प्रत्येक परिवर्त्तन की पृष्ठ-भूमि मे उसका स्वाभाविक प्रमाण होना चाहिए। यदि कोई पात्र अकारण बिना उसकी सूचना अथवा मानसिक सकेत दिए अपनी चित्त-वृत्ति अथवा प्रवृत्ति परिवर्त्तित करता है तो कलाकार दोषी है और उसका चरित्र-चित्रण हीन है।

इस प्रकार का अस्वाभाविक परिवर्त्तन, केवल वही नाट्यकार करता है जो अपने वस्तु को इतना जटिल बना चुका है कि उसका सरल सुलझाव उसकी शक्ति के बाहर है और बिना अपने पात्रों को अस्वाभाविक रूप से परिवर्तित किए न तो उसकी वस्तु सुलझ सकती है और न एकाकी का अन्त ही हो सकता है। ज्योंही वस्तु का सुलझाव, निरूपण और अवरुंधन के दोषपूर्ण होने के कारण, कठिन प्रतीत होने लगता है पात्र भी अपना चरित्र बदलने लगता है और कलाकार के हाथ की कठपुतली के समान हो जाता है। यह चरित्र परिवर्त्तन अत्यन्त दोष-पूर्ण होता है। चरित्र-चित्रण की अस्वाभाविक कला-बाजियाँ अनेक एकांकियों मे देखने में आती हैं। इसी नियम के

अनुसार उत्तम का चरित्र 'ठाकुर का घर' में ग़फ़ार की मां का चरित्र 'माँ' में, धम्मन का चरित्र 'मछुए की माँ' में यमुना तथा भैरव का चरित्र 'बन्दर की खोपड़ी' मे स्वाभाविक रूप से विकसित करने का प्रयास है।[1]

चरित्र चित्रण मे पात्रों—विशेषतः नायक का चुनाव बड़ी सावधानी से होना चाहिए। दुःखान्तकी तथा सुःखान्तकी खण्ड में नायक का विश्लेषण एकाकी मे भी मान्य है। पात्र न तो देवता ही हो और न हैवान; उसमें गुण और दोष का सम्यक विस्तार होना चाहिए। आदर्श नायक जो संस्कृत नाटकों के आधार रहे हैं वे उस समय विशेष के लिए हितकर थे। नायक अथवा कोई भी पात्र इतना आदर्शवत् न हो जाय कि वह मनुष्य रहे ही नहीं। इसमें सावधानी की आवश्यकता है। नाटक के अन्त होते ही सबसे बड़ा लोभ जो नाट्यकारों के सम्मुख रहता है वह है नाटक के मुख्य पात्र का सुखी बनाना। जब नाटक शुरू हुआ तो उस पर विषाद की छाया प्रस्तुत थी और अन्त में वह छाया और भी प्रगाढ़ हो गई परन्तु कलाकार के सुःखान्तकी लिखने के लोभ ने सम्पूर्ण विषाद की छाया धोकर रख दी और अन्त सुःखान्त कर दिया। इस प्रकार का वस्तु-विकास तथा चरित्र-विकास आजकल की एकाकियों में अधिक होता है। सुःखान्तकी में विस्तार अधिक होने से नाट्यकार के पास अनेक साधन रहते हैं परन्तु एकांकी का विस्तार इतना संकुचित रहता है कि सुख दुःख के हिंडोले वहुत देर तक नहीं झुलाए जा सकते हैं और जब एक ही भाव-प्राधान्य हम एकांकी के लिए स्थिर कर चुके हैं तो उसका अतिक्रमण दोष पूर्ण होगा। यदि वस्तु तथा नायक का स्वाभाविक विकास दुःखान्तकी की ओर चल पड़ा है तो उसे रोकना नहीं चाहिए, उसकी शान्ति

---

[1] देखिए—'सात एकांकी'

मृत्यु ही द्वारा होनी चाहिए। इसी कारण 'मां' 'मछुए की माँ' तथा 'ठाकुर का घर' दुःखान्तकी हैं।[1]

संवाद

एकांकी की वस्तु के प्रमुख तत्वों में संवाद महत्वपूर्ण है। संवाद ही एकांकी का मूलाधार है। संवाद द्वारा ही एकांकी का निरूपण, उसका अवरुंधन, उसका उत्कर्ष तथा उसका अपकर्ष प्रदर्शित किया जाता है। संवाद ही चरित्र-चित्रण की भित्ति है और इसी के द्वारा ही चरित्र का विकास होता है। इसी के सफल प्रयोग से एकांकी अपना प्रभाव बनाती बिगाड़ती है।

संवाद की कला कठिन है। हम साधारणतः बात तो स्वाभाविक ढ़ंग से करते हैं मगर उस बात को कागज़ पर लिखते ही सजग हो जाते हैं और लिखित शब्द हमारे अनुभव से न निकलकर 'शब्दसागर' अथवा शब्द-कोष से निकलने लगते हैं। साधारण बोली के शब्दों को कागज़ पर उतारते ही हमें उनमे ग्रामीण दोष दिखलाई पड़ने लगता है और हम फोटो खींचने वाले के समान चित्र न खींच कर किसी उद्भट वक्ता की भाँति संवाद लिखने लगते हैं। वास्तविक बोली का असली रूप हमे डरा देता है और हम मात्राएं साहित्यिक रूप से लगाने लगते हैं जिसका फल यह होता है कि न तो भाषा साहित्यिक रहती है और न ग्रामीण दोनों के मिश्रण से एक अजीब ऊबड़ खाबड़ भाषा की व्युत्पत्ति हो जाती है। इस दोष के कारण अनेक एकांकी भाषा की दृष्टि से असफल प्रतीत होते हैं।

संवाद का प्रधान गुण है प्रभावोत्पादकता। यदि संवाद स्थायी प्रभाव नहीं डालता तो दर्शक अछूता रहेगा और एकांकी के किसी भी अंग की पूर्ति न हो पाएगी। कथोपकथन का रूप जब संवाद ले

---

[1] देखिए—'सात एकांकी'

लेता है तो स्वाभाविकता के साथ उसकी चोटें बराबर की होनी चाहिए। यदि संवाद उलझा हुआ, गतिहीन तथा निरर्थक है तो वस्तु का विकास किसी प्रकार भी सफल-रूप से नहीं हो सकता। इसके साथ ही साथ प्रत्येक संवाद का कोई न कोई नाटकीय प्रयोजन होना चाहिए। प्रयोजन-हीन संवाद का एकांकी में कोई स्थान नहीं। या तो संवाद वस्तु की प्रगति कराए, या चरित्र का विकास करे या भावों को स्पष्ट अथवा गंभीर बनाए इसी मे उसकी महत्ता है। एकांकी के संकुचित क्षेत्र के कारण संवाद का उत्तरदायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है। इसी कारण यह नियम अनिवार्य है कि प्रत्येक संवाद का प्रयोजन स्पष्ट हो और प्रत्येक किसी न किसी रूप मे एकांकी को आगे बढ़ाए। संवाद की स्वाभाविकता की ओर हम पहले संकेत कर चुके हैं। उसकी वास्तविकता मे ही उसका प्राण है। उदाहरणार्थ 'चौराहा' में पादरी, स्कूली लड़के, पुलिसमैन, प्रोफेसर, युवक, युवती, साहित्यिक, पंडित बुड्ढे, बुड्ढी औरतें, सभी के संवाद मे उपरोक्त गुण लाने का प्रयास है।

चरित्र-चित्रण के विवेचन मे हमने संवाद द्वारा पात्रों मे विभिन्नता लाने का सरल साधन बतलाया है और अपभ्रंश, ग्रामीण भाषा, तकिया कलाम तथा सहज नैसर्गिक बोली का प्रयोग हितकर प्रमाणित किया है। इसी के अन्तर्गत हम उन संवादों की भी गणना कर सकते हैं जिनसे पात्रों का व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाता है और उन कथनों का भी लेखा रख सकते हैं जो एकांकी मे प्रदर्शित जीवन स्थल को एक वाक्य अथवा वाक्यांश मे समेट कर रख देते हैं। एकांकी का मुख्य कार्य है किसी एक जीवन-स्थल अथवा अनुभव को स्पष्ट तथा प्रभावोत्पादक बनाना और लेखक यदि सफलतापूर्वक चलते चलते सरलता से संवाद द्वारा उस अंश की ओर संकेत मात्र कर देता है तो संम्पूर्ण एकांकी मे जान आ जाती है। यह तथ्य उदाहरण से ही

स्पष्ट होगा। 'माँ' में अफ़्रीदी जीवन की बर्बरता तथा उसके असंयम की ओर संकेत होना आवश्यक है इसीलिए अहमद कहता है—

"अहमद—.... ख़ून का तो अफ़सोस नहीं, मगर बन्दूक़—मेरी रोज़ी भी गई।"

रहमान भी इसी भावना को स्पष्ट करता है—

"रहमान—हम लोगों के बस की बात भी तो नहीं सबके पास बन्दूकें और हर आदमी शिकारी और हर दूसरा आदमी शिकार।' 'ठाकुर का घर' में १९४२ के हत्याकाण्ड को एक ही सम्वाद में समेटने का प्रयत्न है—

"गंगा—"'अब उसके है ही कौन! सात-सात बेटे तो उसने होम दिए। घर की एक ईंट खड़ी नहीं, अब तक उनकी लाश निकालने वाला भी कोई न मिला। आदमी तो इस तरफ़ गूलर के फूल हो गए। गौरैया ऐसे पट पट मारे गए। न जाने भगवान ने क्या लिख रखा है।"

'मछुए की माँ' में मछुए के जीवन का दैवी विराग अभीष्ट है। इसी भावना को मुलिया की माँ स्पष्ट करती है—

"मुलिया की माँ—ठीक है बेटा! धन्नू मेरे लिए बड़ी-बड़ी चीज़ें लेने गया था, सो वह अभी तक न लौटा और इस बुढ़ौती में तुम मेरे लिए टट्टू ख़रीदने निकले हो। ख़रीदो, ज़रूर ख़रीदो, उसी पर तो चढ़ कर स्वर्ग जाऊँगी न!!!

संवाद का आदर्श रूप वही है जिसमें चरित्र चित्रण तथा वस्तु विकास के साथ-साथ रोचकता बनी रहे। इसलिए संवाद कथोपकथन का रूप इस प्रकार ले कि दो या, तीन के बीच संवाद बदलता रहे और नवीन गति से आगे बढ़ता रहे। 'क' से 'ख' और 'ख' से 'ग'

और 'ग' से 'घ' प्रणाली का संवाद नीरस होने लगता है और जैसा 'बन्दर की खोपड़ी' में प्रदर्शित है संवाद 'क' से 'घ', 'घ' से ग तथा 'ग' से 'क' तक आता जाता रहना चाहिए। संवाद में हास्य, श्लेष, परिहास, व्यंग सभी का प्रभावपूर्ण प्रयोग हो सकता है।

प्रभाव

एकांकी का प्रभाव दर्शक-वृन्द पर लेखक मनोनुकूल डाल सकता है परन्तु ध्यान केवल इस बात का होना चाहिए कि एक ही भावना का प्राधान्य रहे। अन्य भावनाएँ गौण रूप से रह सकती हैं परन्तु एक ही विशेष भावना का स्पष्टीकरण होने से दर्शक के हृदय पर प्रभाव स्थायी रूप से पड़ता है।

प्रभाव के प्रदर्शन में वस्तु-सामंजस्य तथा संवाद का विशेष स्थान रहता है। वस्तु-समन्वय द्वारा ही दर्शक स्थिति ठीक-ठीक समझ लेता है और सवाद द्वारा ही पात्रों का चरित्र ग्रहण कर अपने को प्रभावित कर सकता है। जो सिद्धान्त दुःखान्तकी तथा सुःखान्तकी के उद्देश्य में मान्य हैं वही सिद्धान्त एकाकी के प्रयोग मे भी मान्य हैं। एकाकी आनन्द और शिक्षा दोनों सम रूप से प्रदान कर सकती है। यदि लेखक का ध्येय केवल आनन्द प्रदान है तो वह आनन्द का प्रसार कर सकता है और यदि शिक्षा प्रदान तो वह यह भी सरलता से कर सकता है। साधारणतयः लेखकों ने आनन्द तथा शिक्षा दोनों के यथोचित मिश्रण के उद्देश्य से ही एकांकी लिखे हैं परन्तु अनेक एकांकियों में आनन्द प्रधान गुण है और शिक्षा गौण रूप में ही प्रदर्शित है।